

१. प्रथम अध्याय

साहित्य में समाज दर्शन की परिभाषा और स्वरूप

- १.१ : प्रस्तावना
- १.२ : विद्वानों के विभिन्न मत
 - १.२.१ : संस्कृत के विद्वानों का मत
 - १.२.२ : "हिन्दी के विद्वानों का साहित्य मत"
 - १.२.३ : कविश्री रविन्द्रनाथ ठाकुर
 - १.२.४ : कवि नीरज
 - १.२.५ : साहित्य की पृष्ठभूमिका :
- १.३ : हिन्दी साहित्य का विकास
 - १.३.१ : भूमिका
 - १.३.२ : हिन्दी साहित्य इतिहास : रचना की आवश्यकता
 - १.३.३ : वैदिक संस्कृत
 - १.३.३.१ : संस्कृत
 - १.३.३.२ : पहली प्राकृत या पाली
 - १.३.३.३ : दूसरी प्राकृत
 - १.३.३.४ : प्राचीन हिन्दी
 - १.३.३.५ : हिन्दी में इतिहास लिखने की परिपाटी
- १.४ : साहित्य का दौर
- १.५ : साहित्य और समाज
- १.६ : साहित्य समाज का दर्पण
 - १.६.१ : आज का अनुभव ही है साहित्य
- १.७ : समाज का स्वरूप

- १.७.१ : साहित्य समाज के हित का प्रतीक है।
- १.७.२ : साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध
- १.७.३ : साहित्य का समाज पर सर्वोपरि प्रभाव
- १.७.४ : साहित्य समाज का नियामक और उन्नायक
- १.७.५ : साहित्य और भारतीय समाज
- १.७.६ : साहित्यकार का समाज पर प्रभाव
- १.८ : साहित्यकार द्वारा समाज दर्शन की प्रस्तुती
 - १.८.१ : समाज सुधारक साहित्यकार
 - १.८.२ : समाज में नयी आशा को जन्म देता
- १.९ : निष्कर्ष

प्रथम अध्याय

साहित्य में समाज दर्शन की परिभाषा और स्वरूप

१.१ : प्रस्तावना

इस संसार में मनुष्य ने जब से वाणी का वरदान पाया होगा, तभी से कुछ कहने सुनने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ होगा। ज्यों-ज्यों मनुष्य का विकास होता गया, त्यों-त्यों उसकी बुद्धि उसके चिंतन-मनन और अभिव्यक्ति में परिष्कार होता गया। मनुष्य जो अनुभव करता रहा होगा। उसे अधिक से अधिक सुन्दर व प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न करता रहा होगा। अतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य में जो सौन्दर्य की चेतना है, उसकी फलश्रुति ही साहित्य है। इस प्रकार साहित्य शब्द बड़ा व्यापक है, जो संस्कृत के 'सहित' शब्द से उत्पन्न हुआ है, जिसका एक अर्थ साहचर्य होता है और एक अर्थ कल्याण भी होता है। अतः जब हम साहित्य के संदर्भ में विभिन्न विद्वानों के द्वारा दी गई परिभाषाओं पर दृष्टिपात करेंगे।

इस सृष्टि में समाज जैसे-जैसे विकसित होता गया, वैसे-वैसे साहित्य की सर्जनात्मक प्रवृत्ति प्रबल होती गई और साहित्य-सर्जन का कार्य एक पुनीत कर्तव्य माना जाने लगा। जब हम प्राचीन साहित्य पर विचार करते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि साहित्य और काव्य इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता था, क्योंकि साहित्य-काव्य में ही लिखा जाता था, परंतु आधुनिक युग में गद्य के प्रादुर्भाव के कारण साहित्य शब्द अर्थ की दृष्टि से व्यापक बना है और काव्य शब्द संकुचित हो गया है। अर्थात् जो छंदोबद्ध रचना है, उसे काव्य कहते हैं अथवा पद्य में लिखा हुआ साहित्य काव्य है तथा गद्य और पद्य दोनों में लिखा हुआ वाग्मय साहित्य के नाम से जाना जाता है।

साहित्य की परिभाषा विविध विद्वानोंने विविध ढंग से प्रस्तुत की है। अंग्रेजी के विद्वानों ने "साहित्य क्या है?" इस प्रश्न को उठाया और विविध ढंग से उसे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, "जबकि संस्कृत के आचार्यों ने इसी प्रश्न को दूसरे ढंग से उठाया कि 'काव्य की आत्मा क्या है?' इसका तात्पर्य यह है कि हमारे प्राचीन आचार्यों ने साहित्य-सर्जन की दिशा में काम

करते-करते आत्मा की खोज का कार्य किया।^(१) जिस प्रकार शरीर आत्मा के अभाव में निष्प्राण तथा निष्पन्द बन जाती है। हिन्दी के विद्वानों ने संस्कृत के आचार्यों का ही अनुकरण किया है। काव्य की आत्मा की खोज के संदर्भ में संस्कृत में छः संप्रदायों की रचना हो गयी। अतः संस्कृत हिन्दी तथा अंग्रेजी के विद्वानों द्वारा दी गयी साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ में से कुछ परिभाषाएँ देखेंगे।^(२)

१.२ : विद्वानों के विभिन्न मत

१.२.१ : संस्कृत के विद्वानों का साहित्य मत:

१) अलंकार संप्रदाय-

“तद्दोषैः शब्दार्थो सगुणावनलंकृति पुनः कवापि।”

२) ध्वनि संप्रदाय -

‘ध्वनिः आत्मा काव्यस्य’

३) रीति संप्रदाय

‘विक्रोकितः काव्य जीवितम्।’

४) विक्रोकित संप्रदाय

‘विक्रोकितः काव्य जीवितम्।’

५) रस संप्रदाय-

‘रसात्मक वाक्यं काव्यम्।’

६) औचित्य संप्रदाय

‘सहितस्य भावः साहित्यम्।’

१.२.२ : “हिन्दी के विद्वानों का साहित्य मत”

१) आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

“लिपिबद्ध वाग्मय का नाम साहित्य है।”

२) डॉ. गुलाबराय

“साहित्य संसार के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया की शाब्दिक अभिव्यक्ति है।”

३) डॉ. त्रिगुणायत

“मैं साहित्य को जीवन के गत्यात्मक सौन्दर्य की वर्णमयी साकार अभिव्यक्ति मानता हूँ।”

१.२.३ : कविश्री रविन्द्रनाथ ठाकुर

“साहित्य शब्द से मिलन का भाव देखा जाता है। यह भाव-भाव का भाषा-भाषा का, ग्रंथ-ग्रंथ का ही मिलन नहीं है, बल्कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यंत अंतरंग मिलन भी है।”^(४)

१.२.४ : कवि नीरज

“है वही साहित्य जो बाँधे न हमको, किन्तु खोले।

हर सुखी के साथ हँसले, हर दुःखी के साथ रोले ॥

चाँद का काजल छुड़ा ले, सूर्य को दर्पण दिखादे।

आदमी से प्यार कर ले, अश्रु से अँचल भिगोले ॥

साहित्य की परिभाषा स्पष्ट करने के पश्चात् साहित्य का समाज के साथ क्या संबंध है इस बात की स्पष्टता करेंगे।

१.२.५ : साहित्य की पृष्ठभूमिका :

साहित्य समाज का दर्पण व दीपक होता है इसलिए साहित्य की महत्ता में कहा गया है

“अन्धकार है वहां, जहां आदित्य नहीं है

मुर्दा है वह देश, जहाँ साहित्य नहीं है !”^(५)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि जिस जाति के पास साहित्य नहीं होता, वह बर्बर हो जाती है। इन उक्तियों का अभिप्राय यह है कि वह राष्ट्र व समाज अत्यन्त भाग्यशाली है साहित्य रूपी धन है। भारत में साहित्य की महत्ता सदैव से मान्य रही है साहित्य, सामाजिक भावनाओं की परम्परागत धारा को, अपनी आधारशीला के रूप में ग्रहण करता है। सिद्धों हठयोगियों और नाथपंथियों की यौगिक साधनाओं की जो परम्परा चली आ रही थी, कापालिक की जो जमघट लगी हुई थी, वह अपने रहस्यों, दुराचारों और गुप्त साधनाओं तथा भैरवीचक्रों के दूषित वातावरण की अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर गई; जिसको रोकना बहुत आवश्यक था।

१.३ : हिन्दी साहित्य का विकास

सम्पूर्ण देश में हिन्दी के उत्तरोत्तर विकास-विस्तार में विश्वविद्यालयों की महती भूमिका है। जिस प्रकार सम्पूर्ण उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन बड़े-बड़े कारखानों में होता है, उसी प्रकार देश का बहुआयामी निर्माण देश की शिक्षा संस्थानों में होता है।

स्वतन्त्रता के उपरांत विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभागों की स्थापना जोर-शोर से शुरू हुई। मद्रास विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग सन् १९५४ में खुला, जो हिन्दी साहित्य के पठन-पाठन तथा शोध कार्य हितार्थ निरन्तर सक्रिय रहा। इस विभाग में प्रथम आचार्य शंकरराजू नायडू थे, जिन्होंने कम्ब रामायण और तुलसी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। तिरुकुरल का हिन्दी में अनुवाद किया। उनके उपरांत एस.एन.गणेशन् आए जिन्होंने १९७५ में हिन्दी और तमिल व्याकरण लिखा तथा सुब्रह्मण्य भारती की कविताओं का १९८६ में तथा मणिमेखलै में १९९० में अनुवाद किया। उनके उपरांत डॉ. टी.एस.कप्पुस्वामी आये जिनकी कृति 'हिन्दी रीतिकाव्य' १९९० में प्रकाशित हुई तथा विभाग की अन्य प्राध्यापिका डॉ. शारदा रमणी की कृति भारतेन्दु के गीतों में राष्ट्रीय चेतना १९९०, संघम काल में नारी, १९९२ में छपी।

सम्प्रति डॉ. सैयद रहमतुल्ला विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्यरत हैं जिन्होंने विभाग में कई चुनौती पूर्ण कार्य कर हिन्दी विभाग को प्रतिष्ठा प्रदान की है। सबसे पहले स्कूलों के अध्यापकों को एक साथ जोड़कर उन्हें मार्गदर्शन देते हुए पाठ्यक्रमों का चयन करवाया। कॉलेजों

के पाठ्यक्रम में समयानुकूल बदलाव लाकर उसे बदलाव के अन्तर्गत लिखी गई कृति है। डॉ.सैयद रहमतुल्ला चाहते हैं कि हिन्दी पढ़ने वाला छात्र साहित्य का ज्ञानवर्द्धन करें, इसलिए पुस्तक में जहाँ सरल भाषा का प्रयोग किया गया है वहाँ इस बात पर भी विशेष ध्यान रखा गया है कि छात्र का स्तर संवृद्ध की ओर अग्रसर रहे।

१.३.१ : भूमिका

हम सब यह जानते हैं कि कोई भी भाषा एक आदमी द्वारा बनाई नहीं जा सकती। भाषा का निर्माण या विकास धीरे-धीरे समाज में आपस में बोलचाल से होता है। समय के साथ-साथ भाषा बदलती रहती है, इसलिए एक भाषा से दूसरी भाषा बन जाती है। हिन्दी भाषा का उद्भव एवं विकास में उसकी पूर्ववर्ती भाषाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

जब भारत 'जगद्गुरु' की संज्ञा से अभिहित था, इस समय वैदिक संस्कृत बोली जाती थी। जो आदिकाल से ईस पूर्व पाँचवीं शती तक प्रयुक्त होती रही। समय के साथ वैदिक संस्कृति ही संशोधन प्राप्त कर (व्याकरण के नियमों से सँवर कर) संस्कृत बनी और ५०० ई. पूर्व से १००ई. तक चलती रही। संस्कृत के बाद पहली प्राकृत या पाली आ गई। यह गौतमबुद्ध के समय बोली जाती थी, जो ५०० ई. पूर्व से १००ई. तक रही। इसके बाद दूसरी प्राकृत आ गई। जो पाँच नामों से जानी जाती थी (१) महाराष्ट्री (२) शौरसेनी (३) मागधी (४) अर्द्धमागधी (५) पैशाची इनका प्रचलन १००ई. से ५००ई. तक रहा। इसी दूसरी प्राकृत से नई भाषा पनपी जिसे 'अपभ्रंश' कहा जाता है। जिसके तीन रूप थे—(१) नागर (२) ब्राह्मण (३) उपनागर। इस अपभ्रंश से कई भाषाएँ विकसित हुईं। जैसे हिन्दी, बांग्ला, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि। यदि हम गुजराती, मराठी आदि भाषाओं को एक-दूसरे की बहन कह दें तो अनुचित न होगा क्योंकि 'अपभ्रंश' इनकी जननी है। जिस प्रकार भारत में कई प्रांत के कई जिले हैं, उसी प्रकार हिन्दी भाषा में कई उपभाषाएँ हैं। इनमें ब्रजभाषा, अवधी, खिंडल या राजस्थानी, बुंदेलखण्डी, खड़ी बोली, मैथिली भाषा आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन सभी भाषाओं के साहित्य को हिन्दी का

साहित्य माना जाता है क्योंकि ये भाषाएँ हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'अपभ्रंश' काल से उन समस्त रचनाओं का अध्ययन किय जाता है उपर्युक्त उपभाषाओं में से भी लिखी हो।

१.३.२ : हिन्दी साहित्य इतिहास : रचना की आवश्यकता

समाज में उभरने वाली हर सामाजिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक, धार्मिक, सांस्कृतिक स्थितियों का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है। जनता की भावनाएँ बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित होती हैं। इसलिए साहित्य सामाजिक जीवन का दर्पण कहा गया है। इस प्रकार यह बात उभर कर आती है कि साहित्य का इतिहास मात्र आँकड़े या नामवली नहीं होती अपितु उसमें जीवन के विकास-क्रम का अध्ययन होता है। मानव-सभ्यता-संस्कृति और उसके क्रमिक विकास को जानने का मुख्य साधन साहित्य ही होता है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, इसलिए उसमें मानव-मन के चिन्तन-मनन, भावना और उसके विकास का रूप प्रतिबिम्बित रहता है। अतः किसी भी भाषा के साहित्य का अध्ययन करने और उसके प्रेरणास्रोतों को जानने के लिए उसकी पूर्व-परम्पराओं और प्रवृत्तियों का ज्ञान आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए हमें विकास के इसी क्रम को जानना होगा।

हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषाएँ (सन् १०५० से पूर्व) हिन्दी भाषा के उद्भव-विकास में उसकी पूर्ववर्ती भाषाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

१.३.३ : वैदिक संस्कृत

“जिस समय हमारा देश जगद्गुरु की संज्ञा से अभिहित था, वैदिक संस्कृत ही भारतीय आर्यों के विचारों की अभिव्यक्ति करती थी। प्रायः यह आदि काल से इस पूर्व पाँचवीं शती तक प्रयोग में लायी जाती रही।”^(६)

१.३.३.१ : संस्कृत

“वैदिक संस्कृत ही समय के साथ संस्कार एवं संशोधन प्राप्त कर, व्याकरण के नियमों से सुसज्जित होकर संस्कृत भाषा बन गई। ईसा से लगभग छः शताब्दी पूर्व महर्षि पाणिनी की ‘अष्टाध्यायी’ के निर्माण के साथ ही संस्कृत में एकरूपता आ गई। यह भाषा ५०० ई. पूर्ण से १०००ई. तक चलती रही।”^(७)

१.३.३.२ : पहली प्राकृत या पाली

संस्कृति साहित्य में व्याकरण के प्रवेश ने जहाँ एक ओर उसे परिमार्जित कर शिक्षितों की व्यवहारिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित किया वहाँ दूसरी ओर उसे जनसाधारण की पहुँच के बाहर कर दिया। ऐसे समय में लोक भाषा के रूप में मागधी पनप रही थी, जिसका व्यवहार बौद्ध लोग अपने सिद्धान्त के प्रचारार्थ कर रहे थे। इसी को पाली कहकर संबोधित किया गया।

अशोक के शिलालेखों पर ब्राह्मी और खरोष्ठी नामक दो लिपियाँ मिलती हैं। इसी को कतिपय भाषा वैज्ञानिक पहली प्राकृत कहकर पुकारते हैं इस भाषा का काल ५००ई. पूर्व से १००ई. पूर्व तक निश्चित किया है।

१.३.३.३ : दूसरी प्राकृत

पहली प्राकृत साहित्यकारों के सम्पर्क में आते ही दूसरी प्राकृत बन बैठी और उसका प्रचलन होने लगा। विभिन्न अँचलों में वह भिन्न-भिन्न नामों से पुकारी गई। इस प्रकार इसके पाँच भेद हुए—

१. महाराष्ट्री-मराठी
२. शौरसेनी-पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, पहाड़ी, गुजराती
३. मागधी-बिहारी, मागधी, उडिया, असमिया
४. अर्द्ध मागधी-पूर्वी हिन्दी
५. पैशाची-लहंदा, पंजाबी

१.३.३.४ : प्राचीन हिन्दी

इस काल में आते-आते अपभ्रंश साहित्य का माध्यम बन गई। इसमें से ही देश का जातीय साहित्य मुखरित हुआ। इस प्रकार क्रमशः लोकवाणी, प्रचलित बोलियों एवं साहित्यिक भाषा के विकास क्रम ने प्राचीन हिन्दी को जन्म दिया जो खड़ी बोली हिन्दी की जननी है। यही 'प्राचीन हिन्दी' या 'हिन्दवी' अपभ्रंश और आधुनिक खड़ी बोली के मिलनरेखा के मध्य-बिन्दु को निर्धारित करती है।

१.३.३.५ : हिन्दी में इतिहास लिखने की परिपाटी :

हिन्दी-साहित्य में इतिहास लिखना कब और कैसे प्रारम्भ हुआ, यह विचारणीय प्रसंग है। इतिहास लिखने वालों की दृष्टि अपने आप चौरासी वैष्णव की वार्ता और भक्तकाल की ओर खिंच जाती है परन्तु तथ्यों और खीजबीन से यह पता चलता है कि इसका श्रीगणेश पाश्चात् साहित्य के प्रभाव से ठाकुर शिवसिंह सेंगर (सन् १८८३ ई.) द्वारा लिखित 'कवियों के एक वृत्त संग्रह' के द्वारा हुआ। इसके पहले अंग्रेज लेखक गार्सादि तासी ने ७२ कवियों का नाम विवरणों के साथ अपने इतिहास (सन् १८३९) में प्रस्तुत किया था।

१.४ : साहित्य का दौर

साहित्य का उद्देश्य वर्तमान समाज में क्या है? "आज साहित्य प्रेमचंद युग के साहित्य की तरह "सादर्श" की अभिव्यक्ति नहीं करता, कारण कि "आदर्श ही बहुत समय से लापता हो गए हैं। ना "आदर्श" जीवन बचा, न आदर्श समाज, न आदर्श मनुष्य और न ही आदर्श स्थिती, क्योंकि "आदर्श" कि परिभाषा और परिभाषा को चरितार्थ करने कि प्रक्रिया, जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ में गडबड हो गई है।"^(८) चाह कर भी कवि कहानीकार, उपन्यासकार, संवेदनशील लेखक इस भुलभुलैया से जीवन का उत्तर नहीं खोज पा रहा है। ऐसे में साहित्य और साहित्यकार बहुत ईमानदारी से, संजीदगी के साथ (अपनी समझ से) इन अनुत्तरित प्रश्नों को पाठकों के सामने रख कर अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है।

तो इसका अर्थ यह लिया जाए कि साहित्य का उद्देश्य आधुनिक समाज में, समाज और व्यक्ति के संबंध और जीवन से संबंधित प्रश्न को प्रस्तुत करता है? आज से बीस-तीस वर्ष पूर्व के साहित्यकारों ने कुछ ऐसा ही सोचा और माना था पर प्रश्न उठा कर छोड़ देने से भी बात कुछ बनी नहीं तब लेखक ने प्रश्न निजी उत्तर देते हुए अनेक अन्य उत्तरों अर्थात् चिंतन दिशाओं के द्वारा भी संभावना के तौर पर पाठकों के सामने खुले छोड़ने प्रारंभ कर दिए। आज साहित्यकारों के इन्हीं निजी उत्तरों में राजनैतिक मतों और विशेष सामाजिक संदर्भ की छायाएँ उतरती दिखाई देती हैं, जिनकी कुछ चर्चा मैंने पिछले लेख में की थी ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से विश्व में मनुष्यता के प्रति अविश्वास और जीवन की अनिश्चितता के अहसास ने अनेक नए दर्शनों और चिंतन दृष्टियों को जन्म दिया था । हिन्दी साहित्य में भी इन चिंतन दृष्टियों को अनेक कृतियों जैसे "अंधायुग" (धर्मवीर भारती), शेखर: एक जीवनी (अज्ञेय) और जैनेन्द्र कुमार आदि अनेक साहित्यकारों की रचनाओं में देखा जा सकता है। सन् सैंतालीस के बंटवारे ने मनुष्य के भीतर की पशुता का जो नग्न रूप दिखाया, उसने साहित्य और साहित्यकारों को "आदर्शवाद" के "युटोपिया" से पुरी तरह बाहर लाकर पटक दिया। यशपाल के "झूठा-सच" उपन्यास ने साहित्य के उद्देश्य को एक नया आयाम दिया - वह था सच का बिना छे, ज्यों का त्यों उद्घाटन करना और जीवनी शक्ति, संघर्षों और पीड़ के थपेड़े खा कर भी बची हुई जीवनी शक्ति की स्थापना करना। सच ही तो है, जब साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है, समाज का हित करनेवाला कहा जाता है, "तब समाज में राजनेताओं के स्वार्थ पूर्ण निर्णयों और समाज में उन निर्णयों के प्रतिफल द्वारा उत्पन्न विषैली स्थितियों को पाठकों के सामने लाना भी साहित्यकार का ही काम है।"^(९)

यही "सच" बहुत ही धारदार, विश्लेषणात्मक दृष्टि के साथ बोला है। तसलीमा नसरीन (बंगलादेश की लेखिका) के उपन्यास "लज्जा" ने, जिसे वहाँ की सरकारने इस्लामविरोधी या कहें शासक विरोधी भी बता कर जब्त कर लिया था। "लज्जा" उपन्यास में बंगलादेशी हिन्दुओं पर वहाँ के कट्टरपंथी मुसलमानों द्वारा ठाये गए अत्याचारों का तथ्यात्मक वर्णन है। यहाँ उपन्यास की विद्या रिपोर्टिंग का भी काम करती है और संविधान के नियम-अधिनियमन बताने वाली

राजनैतिक शास्त्र की पुस्तक का काम भी करती है। “लज्जा” उपन्यास की शक्ति, उसके द्वारा कहे सत्य की मार्मिकता में है, कठोर तथ्यों को बेधडक प्रस्तुत करने में है। यशपाल और तसलीमा नसरीन, और उनके ही जैसे सत्य को धारदार रूप में निर्भीकता से प्रस्तुत करने वाले साहित्यकारों ने साहित्य के उद्देश्य को एक नया ठोस आयाम दिया है, जिसके चलते यह लगने लगा है कि अपने देश और संसार में जो उथल-पुथल मची है, मनुष्यता और जीवन दोनों को ही दांव पर लगा कर आतंकवादी शक्तियाँ जो कुछ कर रही हैं, उसको बिना किसी चिंतन और दर्शन का मुलम्मा (कोटिंग) चढाए हुए ही प्रस्तुत करना चाहिए तार्किक जो कुछ सामने और राजनेताओं के मन और दफ्तरों में चल रहा है उसे सामने लाकर, जनता को भ्रमित होने से बचाया जाए।

ग्यारह सितंबर, २००१ के आतंकवादी हादसे और तदुपरान्त अफगानिस्तान और ईराक में अमरीकी सैनिकों द्वारा आतंकवादियों की खोज और धर-पकड की लड़ाई ने, इक्कीसवीं सदी को ऐसे अनेक पैसे चुभनेवाले प्रश्नों के सामने ला खड़ा किया है। प्रश्न यह है कि साम्प्रदायिक दंगों और आतंकवादी हमलों में किसी भी धर्म और उस धर्म से जुड़े समाज की क्या भूमिका होती है? प्रश्न यह है कि विभिन्न धर्मों के जागरूक प्रतिनिधि एक व्यापक सामाजिक समझ का वातावरण कैसे पैदा करें? क्या ऐसा करने से पहले उन्हें तालिबान और उनके कर्मानुलम्बियाँ, उनके कार्यों को समर्थन और सहानुभूति देनेवाले समाज को भी कुछ समझाने का काम करना होगा या नहीं।

सन् २००१ और अब युद्ध और आतंक की घटनाओं के बीच साहित्य और साहित्यकार को पुनः एक नयी करवट लेनी होगी, जाग कर वास्तविकता की चौंध को, आँखों पर सुरक्षा का कोई हाथ लगाए बिना ही देखना होगा। यह सच है कि मनुष्य जीवन इन घटनाओं के बाद, पहले जैसा नहीं रह गया है। हादसों की आशंकाओं से काँपते हृदयों में भविष्य की कोई तस्वीर साफ नहीं है। आम आदमी विभिन्न सरकारों द्वारा किए जाने वाले कड़े सुरक्षा प्रबन्धों से उत्पन्न झंझटों की चिड़चिड़ाहट और आतंकवादियों द्वारा इन सुरक्षा प्रबन्धों के बीच से, बचकर निकल जाने और असुरक्षा फैलाए जाने के डर के बीच झूल रहा है। यह जीवन की त्रासदी ही तो है। प्रश्न यह है कि साहित्य जो समाज का ‘दर्पण’ और समाज को दिशा देने वाला कहा जाता है, वह इस

त्रासदीपूर्ण समय में, इस त्रासदी को विश्लेषणात्मक स्तर पर प्रस्तुत करते हुए, भविष्य की दिशा कैसे बताए?

साहित्यकार यह विश्लेषण अपनी रचनाओं में तो प्रस्तुत करते ही हैं जैसे डॉ. अंजना संधीर की यह कविता "वर्ल्ड ट्रेड सेंटर" को याद करती है--

“सब ने मिलकर ग्राऊंड जीरो पर
लगाया है क्रिसमस ट्री

२१ हजार खिडकियों वाले इस वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की जगह

आज लगाया ये यादों से लिपटा पेड

तुम ढह गए हो आज पर मर नहीं सकते

हमारी यादों में वैसे ही जिंदा हो तुम

ओ वर्ल्ड ट्रेड सेंटर”^(१०)

(वैसे ही जिन्दा हो तुम)

राजेन्द्र तिवारी अपने शेर में लिखते हैं--

“ये अभी बच्चे हैं अपनी काट लेंगे उँगलियाँ

इनके हाथों में खिलौने दो इन्हें खंजर न दो”^(११)

समय चाहे सैंतालीस का हो, सन् ७१ के हमले का, इंदिरा गांधी द्वारा लगाई गयी आपात्कालीन स्थिति का, पंजाब, कश्मीर में हुए नरसंहार का, बाबरी मस्जिद ढहाने पर उत्पन्न संकट का या रेल के डिब्बे को सील कर लोगों को जलाने से उत्पन्न साम्प्रदायिक दंगों का या ईराक में युद्ध करते सिपाहियों का या साउदी अरब में अकेले रिपोर्टर पॉल जॉनसन की निर्मम हत्या का-- हर बार, हर घटना, हर समय में मनुष्य और मनुष्यता मरी है, मारी गई है और शेष रह गई है जिंदा रहने की तीखी चिंताएँ और धुंधला या लुप्तप्राय होता भविष्य!

यह दुःख और चिंता से भरा सच है। विज्ञान और तकनीक की प्रगति, चिंतन और दर्शन के गहन मंथन और संवेदनशीलता के अतल में उतरने के बाद क्या हमें अपने बर्बर आदिम रूप में फिर आना होगा? क्या धर्म और सम्प्रदाय की रूढ़ियों से जिज्ञासु की स्वतंत्र सोच फिर बाधित होगी? ऐसे में साहित्यकार और बुद्धिजीवी क्या हाथ धरे ऐसे ही बैठे रहेंगे ? क्या उनका स्थिति दर्शन कराना और सुरक्षित विश्व की शुभकामना करने से कुछ हो पाएगा? या फिर निराशा में डूबा मन यह गुणगुनाता प्रतिक्रियावाद की ओर मुड़ आएगा

“जूझे, लड़े, थके और टूटे, अब वे जान गए होंगे।

उनका अमृत नहीं मिलेगा, चले हलाहल ढूँढे हम।।

(डॉ. गोविंद व्यास-“दो पल”)^(१२)

मुझे ‘कामयनी’ का मनु और श्री जयशंकर प्रसाद की अपनी पंक्तियाँ ध्यान आ रही है जहाँ ज्ञान और दर्शन-चिंतन को कर्म से जोड़ने की बात कही गई है या कहें कि उनके पृथक रहने पर पूर्णता न पहुँच पाने का दुख है-

“ज्ञान दूर कुछ किया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की

एक दूसरे से न मिल सके यहा विडम्बना है जीवन की।”^(१३)

प्रायः कहा जाता रहा है कि कलम, तलवार से अधिक शक्तिशाली होती है। इस कलम की शक्ति को जाँचने की परीक्षा पुनः आज के साहित्यकारों के सामने आ खड़ी हुई है।

जब रूस और फ्रांस की क्रान्ति में यह कलम बड़ी भूमिका निबाह सकती है, जब भारत-चीन युद्ध में ‘दिनकर’ की कलम, रेडियो से गूँजती उनकी वाणी सिपाहियों के हाथ और मन में ऊर्जा भर सकती है तब आज के कठिन, दुरूह समय में भी यह कलम अपने स्वर की ऊर्जा से कुछ सकारात्मक काम कर सकती है, अभी यह मेरा विश्वास बाकी है। हाँ, यह सत्य है कि दिशाएँ आतंक के सघन अंधेरे में लुप्त हैं, हाँ यह सत्य है कि निराशा से अवसन्न पैर उठना नहीं चाहते पर यह भी सत्य है कि जीवन की दैनंदिन समस्याओं से जूझता आदमी अखबारों की खबरें पढ़ कर बहस करना नहीं भूलता। “क्या होगा”, “कैसे होगा” की दीवारों में, उसकी सोच

सूराखें करके अवरुद्ध भविष्य को खोजने में लगी हैं। जब मनुष्य नहीं हारा, जब समाज बहस के गर्म माहौल में दिशाएँ खोज रहा है तो साहित्यकार कैसे हार सकता है, थक कर बैठ सकता है?

आप सोच सकते हैं कि मैं भी आपकी तरह आशा और निराशा के मध्य झूल रही हूँ। सच ही है, युगचेता लेखकों और रचनात्मक प्रतिभाओं की हमारे समाज और भाषा में कमी नहीं— पर स्थितियों की विभीषिका में बिना “कम्युनल” हुए या प्रतिक्रियावादी बने, अपनी अस्मिता, अपने आत्मगर्व और सकारात्मकता को “सक्रिय” ढँग से साहित्यकार कैसे स्थापित करे – यह एक बड़ा प्रश्न है। बिना “सक्रिय” यानि व्यापकरूप से अपने होने और अपनी सोच को जताए बिना काम नहीं चलेगा। किसी एक देश के एक कोने, एक प्रांत में, एक बेहद सार्थक पुस्तक प्रकाशित होकर यदि लाख, हद से हद दो—तीन लाख लोगों द्वारा पढ़ भी ली जाती है तो उससे उसके बाद क्या होता? यानि कि बात वही है लेखक को, आज के समय में, इससे अधिक सक्रिय होने की आवश्यकता है, व्यापक स्तर पर अपने फैलाने की आवश्यकता है और इसलिए “मिडिया” एक सशक्त माध्यम बनता जा रहा है।

एक असंभव संभावना, एक पागल इच्छा मेरे मन में सिर उठा रही है। “क्या ऐसा नहीं हो सकता कि विश्व के लेखक – साहित्यकार एक जुट होकर आज के आतंकवाद से भरे माहौल पर विचार करते हुए कुछ, दिशाएँ खोजें इन दिशाओं का संधान करें अपने लेखन से? दुनिया के मजदूर और किसान एक जुट होकर क्रांति कर सकते हैं तो विश्व के चिन्तक, लेखक एक जुट होकर, नयी वैचारिक क्रांति और नयी स्वस्थ दिशा का संधान क्यों नहीं कर सकते? जब मुठ्ठी भर आतंकवादी, बढ़ते-बढ़ते अपने आतंकवादी गिरोहों को चोरी छुपे सारी दुनिया में फैला सकते हैं तो हम अनेकानेक लेखक और विचारक, खुलेरूप से, मीडिया, विज्ञान और तकनीक का उपयोग कर, जन सामान्य की बुझती आशाओं में जीवन-शक्ति का तल डाल कर उसे उद्दीप्त नहीं कर सकते?”^(१४)

आज जब समय कठिन है तो साहित्य का उद्देश्य भी महत् और संश्लिष्ट है और इस महत्-संश्लिष्ट उद्देश्य की पूर्ति कैसे की जाए – इस पर विचार बहस होना बहुत जरूरी है।

इतना तो निश्चित है कि साहित्य को 'यादों', 'निराशाओं' और 'दार्शनिक लहजों' से निकल कर सीधी चोट करनी होगी बुराई, आतंक, भ्रष्ट व्यवस्था और रूप बदल कर बैठी साम्प्रदायिकता पर और सकारात्मकता और जीवन की स्थापना, उसका जयघोष फिर करना होगा व्यक्ति जितना भोगता है, जितना सहन करता है, जिसका प्रत्यक्ष गवाह होता है वह गांहे-बगाहे अपनी कलम के माध्यम से पाठकों के सामने परोस देता है। इस थाली में परोसे गए भोज्य पदार्थ में साहित्यकार की संवेदना, अंतर्वेदना, मनोवेदना का वही अनुपात-समानुपात होता है, जो हम दैनिक जीवन में हम देखते हैं, भोगते हैं, निरपेक्ष भाव से ग्रहण कर लेते हैं। फिर किसी भी समाज में दुःख का अनुपात सुख को हमेशा मात देता है तो साहित्य भी कैसे अछूता रह सकता है।

१.५ : साहित्य और समाज

साहित्य और समाज का बड़ा गहरा बंध माना जाता है। साहित्य समाज से प्रभावित होता है और समाज को दिशा प्रदान करता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और एक साहित्यकार समाज में ही रहकर विविध प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करता है और उन्हें जब वाणी के माध्यम से व्यक्त करता है, तो उसे साहित्य की संज्ञा दी जाती है। साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण और उसकी अनुभूति तथा कल्पना सामाजिक देन है, क्योंकि वह सर्जक मूलतः सामाजिक प्राणी है। सामाजिक वातावरण में ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अर्थात् युगीन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों से साहित्यकार प्रभावित होता है और किसी ऐसे साहित्य का निर्माण करता है, जो उस युग को भी प्रभावित कर सके। इस प्रकार साहित्य और समाज का संबंध विविध दृष्टिकोण से देखे। कहानी का 'सामाजिक' कह देना अक्सर संतोषप्रद समाधान बन पड़ता है। कोई यदि उससे भी संतुष्ट नहीं हो या और अधिक रुचि दिखाए तो लगभग पीछा छुड़ाने की नीति के तहत मैं उससे 'मनोवैज्ञानिक' का खासा अहमन्यपूर्ण तमगा और लगा देता हूँ जो एक मासूम सवाल की चुभन से निरापद सा कर देता है। जो भी हो एक बात तय है कि 'सामाजिक' कहानियों का लेखक होने भर से सामने वाले की नजर में एक अनजाने

सम्मान की कोंध आ धमकती है। मानो समाज-इंगित कहानी सृजन अपने आप में एक पर्याप्त उदात्त कार्य है जिसकी आंख मूंदकर अनुशंसा की जा सकती है। 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' और 'साहित्य समाज का दर्शन है' जैसी उक्तियों का मिलान करके देखें तो यहीं-कहीं से मनुष्य और साहित्य दोनों को आंकने-तोलने की अपनी सी बरामद होते दिखती है। अपने लिए तो सभी जीव जीते हैं, दूसरों यानी समाज के लिए जीने का जज्बा केवल मनुष्य में होता है। इस लिहाज से असल या बेहतर साहित्य वही होता है जिसमें वृहत्तर समाज की चिन्ताएं और बेहतरी शामिल हों।

साहित्य को इस तरह जांचने-परखने के नजरिए में गड्ढा है तो बस यही कि यह साहित्य को नीति-शास्त्र में रिङ्गूस कर देता है। अच्छाई और बुराई की लड़ाई में जीत अन्ततः अच्छाई की होनी चाहिए, सत्य हमेशा जीतता है, पाप का फल दुखदाई होता है जैसे तयशुदा आदि मानदंडों की श्रृंखला खुद-ब-खुद अवतरित होने लगती है। साहित्य के समाजोन्मुख होने से, जैसे प्रश्न में प्रच्छन्न है, मानो समाज या उसकी वास्तविकता बदल जाएगी! कहानी उपन्यास में आवश्यकता पर न्याय की जीत या हर किस्म का जरूरी आंदोलन दिखाने भर से क्या वह एक व्यापक यथार्थ बन जाएगी? क्या साहित्य इस हार-जीत के फेर से परे उस प्रक्रिया और संघर्ष के उद्घाटन का माध्यम नहीं है जिसमें न्याय-अन्याय की गुत्थम-गुत्था हो रही होती है? या फिर क्या साहित्य का सृजन अपने आप में सामाजिक सरोकारों की खातिर नहीं होता है? "एक लेखक जब किसी कविता, कहानी या उपन्यास के माध्यम से अपनी सोच, संवेदना और निरीक्षण को चयनित विधा में प्रस्तुत करता है तो उस बिंदु पर ही क्या वह सामाजिकता और सरोकारों के दायरे में कदम नहीं रख चुका होता है?"^(१५)

लेकिन जब साहित्य के सरोकारों की बात की जाती है तो शायद अभिप्राय समाज की कुरीतियों और चुनौतियों पर साहित्य के जरिये प्रहार करने से होता है जिनसे भारतीय समाज दुर्भाग्यवश अरसे से ही आपाद-मस्तक लिथड़ा पड़ा है। हिंसा, अपराध, ठगी, बलात्कार, अत्याचार और धपलों के उत्तरोत्तर भयावह निकलते संस्कारणों की खतरें रोज इतनी परोसी जा रही हैं कि पत्रकारिता अपराध-कथाओं की खबरी बनकर रह गई है। खुदपरस्ती, चालाकी-

मक़ारी और आपाधापी ने आमजन की मानसिकता में इस कदर घर कर लिया है कि कुछ हलकों को अपेक्षा रहती है कि साहित्य ही वह चारागर हो सकता है, या होना चाहिए, जो समाज में गहरे पैबस्त इन अनेक मर्जों से निजात मुहैया कराये। अपेक्षा पालने वाले निश्चय ही स्वयं साहित्य से समबद्ध होंगे क्योंकि समाज के दूसरे तमाम ऐसा कोई मुगालता शायद ही कोई पालते हों। साहित्य की यह अपेक्षित भूमिका गैर सरकारी संस्थाओं (एनजीओ) की तर्ज पर उसके एक किस्म के एक्टिविस्ट होने से ताल्लुक रखती है। सिर्फ माध्यम और उसके औजारों में ही फर्क होता है। अंतिम लक्ष्य दोनों का वही है: समाज का उद्धार। यानी साहित्य को अपने देश-काल की चुनौतियों को स्वीकारते हुए एक ऐसे डिटर्जेंट में तब्दील हो जाना चाहिए जो समाज में पक चुकी बीमारियों के लिए अक्सीर का काम करते हुए स्वयं अपनी सार्थकता हासिल कर ले। क्या साहित्य के हाथ में वाकई समाज की वह नब्ज होती है जिसमें मर्ज की शिनाख्त करके उसका समुचित इलाज किया जा सके? क्या साहित्य ने अतीत में अपने यहाँ या अन्यत्र कहीं ऐसा कुछ करतब किया है जिसकी बिना पर उससे यह अपेक्षा पाली जा रही है? अमेरिकी गृह युद्ध की शुरुआत के लिए अब्राहम लिंकन ने जरूर हैरिएट बीचर स्टो की 'अंकल टोम्स केबिन' की सेहराबंदी कर दी थी मगर अश्वेतोंकी अन्ततः मुक्ति के लिए चला लंबा संघर्ष उस पुस्तक से कहीं परे की चीज रहा है। अब कोई यह कैसे बताए कि उस महान कृति की लेखकीय प्रेरणा किसी सामाजिक क्रांति या परिवर्तन का स्वप्न नहीं बल्कि हैजे के कारण अपने सबसे छोटे पुत्र की अकाल मृत्यु का निजी दुख था जिससे उबरने के लिए वह पुस्तक लेखिका का संबल बनी थी। हमारे कई अग्रज लेखकों ने साहित्य की तुलना उस मशाल से की है जो सामाजिक परिवर्तन का रास्ता प्रशस्त करती है। यह दर्शन साहित्य के सृजन का अनधिकृत और कमजोर औचित्य भर है। लगभग सौ वर्ष तक चले भारतीय स्वाधीनता संघर्ष का रास्ता कौन सी मशाल प्रशस्त कर रही थी? पचास-सौ वर्ष पहले के समय में सामाजिक परिवर्तन और साहित्य के बीच एक परोक्ष तारतम्य तलाशा भी जा सकता हो (प्रेमचंद की कुछ रचनाओं ने जनसामान्य के बीच अंग्रेजी शासन की पोल खोलकर उनके खिलाफ माहौल बनाने में भूमिका अदा की थी) या कम से कम उनमें उस समय-समाज की आहटों को तो महसूस किया ही जा सकता है मगर आज हो रहे

परिवर्तनों को साहित्य संचालित करने की तो कौन कहे, संतोषजनक ढंग से दर्ज भी कर पा रहा है?

मैं सोचती हूँ कि बड़ा सच यही है कि “हमेशा से समाज को संचालित और प्रभावित करनेवाली शक्तियाँ साहित्येतर रही हैं। उन शक्तियों के प्रोत्साहन, पोषण और उनकी संभावना तराशने में साहित्य की थोड़ी-बहुत भूमिका होती रही हो मगर साहित्य की शक्ति को समाज की बरक्स आंकते-जांचते हुए उसकी पहुंच और प्रभाव के प्रति अति-उत्साहित होने से बचना होगा।”^(१६) यहाँ यह उल्लेख करना दिलचस्प होगा कि संगीत, चित्रकारी या दूसरी किसी अन्य कला-विद्या से उसके सामाजिक सरोकारों की बात शायद ही इस अधिकार से उठाई जाती हो जैसी साहित्य के बरक्स। फिल्मों को लेकर जब-तब जरूर ऐसा हुआ है मगर वास्तव में वह निर्देशक के सामाजिक सरोकारों के कारण ज्यादा हुआ है न कि उस विद्या के कारण। साहित्य से इस अपेक्षा का अतिरिक्त कारण शायद यह होता हो कि लंबे समय तक साहित्य और साहित्यकारों की जनसमुदाय के बीच एक साख रही है और अपने समय-समाज के भीतर पनपती व्याधियों से मुकाबिल होने की ऊर्जा समाज को वहाँ से मिलती रही है। इसे संयोग भी कह सकते हैं कि कालांतर में मनुष्य के अकेलेपन, संताप और उन्तरद्वंद्वो (जिनकी उपस्थिति साहित्य की व्यापकता का बड़ा कारक थी) में उसका साथ और समाधान करने दूसरे ऐसे विकल्प आ गये जिन्होंने साहित्य को कमोबेश परे खिसका डाला।

अपने यथार्थ को जानने समझने के लिए ही नहीं बल्कि उस यथार्थ के विस्तार और आंकलन के लिए साहित्य अन्तर-दृष्टि देता है। एक बड़ी रचना पाठक की चेतना को आध्यात्मिक स्तर तक समृद्ध करती है इसलिए जब समकालीन रचनाएं न पढे जाने के संकट से ग्रस्त चल रही हैं, अतीत की वे रचनाएँ जिनमें मनुष्य की पीड़ा-यातना, जिजीविषा, आस्था, संघर्ष, रागद्वेष और मूलभूत स्वतंत्रता स्वतः स्फूर्त आवेग से प्रकट हुई हैं, आज भी पढे जाने को आकर्षित और उद्वेलित करती दिखती हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि, “लेखक के सामाजिक सरोकारों में फर्क आया है; इसका अभिप्राय यही है कि इधर की रचनाओं के लेखकीय सरोकारों में फर्क आया है।”^(१७) एक वास्तविक लेखक के लिए यह गौण होगा कि उसकी रचना किस तरह

सामाजिक सरोकारों की आपूर्ति करती है। कोई भी साहित्यिक रचना समाज की आवश्यकता पूर्ति के लिए नहीं होती है हालांकि वह उसे किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य करती है। एक कलाकृति की नैतिकता, जैसा निर्मल वर्मा ने कहा है, उसके होने में है, जैसे वृक्ष पर फल का लगना। वृक्ष का धर्म फल देना है, लोगों की क्षुधा मिटाना नहीं।

लेकिन कोई कृति समाज को कैसे और कितना प्रभावित करेगी और कर सकती है यह सदियों से अनुत्तरित जटिल प्रश्न है। माना जा सकता है कि लेखक जिस सामाजिक दायरे में साँस लेता है, जिस आबोहवा से अपनी रचनाओं का खाद-पानी जुटता है, उसमें उसके सामाजिक सरोकार सहज रूप से अवस्थित रहेंगे ही। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य में कल्पना का बडा और जरूरी स्पेस आरक्षित रहता है जिसके कारण एक रचना का सत्य उसके सृजन में पैबस्त यथार्थ से बेशक अलहदा हो सकता है। एक कलाकृति विचार और अनुभव के बेहद व्यक्तिवादी और विशिष्ट संदर्भों से उपजती है और उसकी बुनियाद में एक अपरिभाष्य स्वेच्छाचारी किस्म की स्वायत्तता जडी मिलती है। इसलिए विशुद्ध कल्पना के सहारे लिखी गई कोई कहानी कभी एकदम सच्ची प्रतीत होती है तो कभी वास्तविक घटना का कहानीकरण अविश्वसनीय लगने लगता है। किसी ने कहा भी है कि उपन्यासकार वह इंसान है जो एक सच बताने के लिए एक से एक झूठ गढता है। जो भी हो, अपनी पैदाइश और प्रक्रिया में कोई कहानी उपन्यास लेखक के सामाजिक सरोकारों से बंधकर शायद ही चल पाती है। जहां ऐसा होता है- जैसे गोर्की का उपन्यास 'माँ' - वहाँ कलाकृति अपनी संभावना को छूने से वंचित हो जाती है हालांकि अन्यान्य कारणों से वह चर्चित या लोकप्रिय हो सकती है।''^(१८)

इस सबके मद्देनजर यह उतना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता है कि सामाजिक सरोकारों का साहित्य कितना निर्वाह कर रहा है बल्कि यह कि हमारा साहित्य लेखन के सरोकारों का कितना निर्वाह कर पाता है जो देश-काल की सीमाओं को पार करते हुए आनन्द और अवलोकन के अन्जाने अन्तःप्रदेश गढते हैं। साहित्य में सामाजिक सरोकारों का अभाव प्रकान्तर से लेखकीय सरोकारों की कोताही की घोषणा है। हम किसी विचार को अनुभव के ताप में पिघलाकर या किसी अनुभव को विचारों की रोशनी में परखते हुए कब लिखते हैं? त्रास, उल्लास, आशंका, खौफ,

विचलन-आंलोऽन और उदासी की कन्दराओं में भटकने का फितूर और धैर्य अब कितने लेखकों की फितरत में शामिल रह गया है? क्या हमारे लेखक उन स्थितियों, चरित्रों, व्यवसायों की मार्फत आंगन में आई समकालीनता की धूप के मोखे की तरफ मुँह करने की भी जहमत उठाते हैं जहां से वह आ रही है? या फिर उस कुठरिया के बाहर तना लोगों का जमघट, वाहनों की भागमभाग, बादलों की गर्जना, मौसमी चिड़ियाँ की चहचहाहट, सियासी फरेब की छाया, विज्ञापनी कोलाहल और मंथन करती बाकी दुनिया का जो अनंत: भंडार है वह सब कुरेदनी भर भी हमारी जिज्ञासा लगाते हैं? सत्ता प्रतिष्ठान में प्रवेश का बीजा न लग पाने का गिला हमें इतना है कि अपनी तरह के फुरफुरे कबीले बनाकर सत्ता सुख की प्रतिहिंसात्मक ढंग से रिक्तपूर्ति करते हैं। सत्ता से हमारा प्रतिरोध तभी तक रहता है जब तक हम उसके लाभार्थी नहीं बनते हैं। हम अपने आचरण में किसी उसूल या नैतिकता के कतरे को दकियानूस और गैर-जरूरी समझते हैं क्योंकि यही नयी प्रगतिशीलता है। हमारी इस कैफियत के लिए वैसे यह कहना नामुनासिब न हो कि साहित्यकार समाज का दर्पण होता है क्योंकि व्यवहार, मानसिकता और चरित्र की ये सब वृत्तियाँ हमारे समकालीन समाज की पहचान सरीखी है।

१.६ : साहित्य समाज का दर्पण

साहित्य समाज का दर्पण होता है जिस समाज का साहित्य जितना विकरि उतना ही उन्नत, जाग्रत होगा। रैगर जाति भी इस विडम्बना से वंचित नहीं रही बीसवीं शैक्षणिक, राजनैतिक आन्दोलनों के प्रभाव से तथाकथित दलित जाति के अंतर्गत नवजागरण का प्रवेश हुआ। समाज के प्रबुद्ध विद्वानों के द्वारा रैगर प्राचीन इतिहास का कार्य प्रारंभ कर दिया गया। अनेकों प्रयासों अनुसंधानों के पश्चात् भी हमारी प्रामाणिकता इतिहास तक नहीं पहुंच पाये फिर भी हमारे समाज में प्रचलित रिति-निती, जागाओं, गंगागोरों की पोथियों, किवदतियों ने रैगर जाति का उद्भव रघुवंशीयों से अग्रवाल समाज से होना स्वीकार करते हैं। रैगर समाज का प्राचीन स्वर्णिम इति... पूर्वक खोज परमावश्यक है। समाज के प्रबुद्ध लेखकगण स्व. श्री पूज्य स्वामी, श्री चिरंजीलाल बकोलिया, श्री जीवनराम गुसाईवाल, श्री वन्दनमल नवल द्वारा शोधपूर्ण इतिहास की

रचना की गई जो उच्च कोटी के रैगर इतिहास होकर अत्यंत धन्यवाद के पात्र है। यह कहना है, “आचार्य महावीर प्रसादजी की किसी काल या देश का सही चित्र यदि हम कही देख सकते हैं तो उसके लिए देश के साहित्य में झाँकना होगा।”^(१९) हिंदी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जायेगा की समय और समाज के परिवर्तन के साथ साथ साहित्य में भी परिवर्तन हुआ है। समाज के विचरों, भाव भावनाओं और परिस्थितियों का प्रभाव साहित्यकार और साहित्य पर निश्चित रूप से पडता है। इसलिए साहित्य का समाज दर्पण होना स्वाभाविक है। साहित्य अपने समय का प्रतिबिम्ब है।

साहित्य और समाज का संबंध कोई नया नहीं बल्कि बहुत पुराना है। समाज की शोभा उसकी यश सम्पन्नता एवं मन मर्यादा को साहित्य प्रतिबिंबित करता है। साहित्य और समाज भिन्न नहीं है। मानो समाज शरीर है तो साहित्य उसका आत्मा है। साहित्य हमारी ज्ञान पिपासा को तृप्त करता है। साहित्य हमारी बैद्धि भूख मिटाता है। साहित्य के द्वारा हम अपने राष्ट्रीय इतिहास, देश की संस्कृति और सभ्यता, पुरुषोंके अमूल्य विचार, प्राचीन रीतिरिवाज, रहन सहन और परम्परा का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

भारतीय साहित्य में हमारे पुखाध श्लाध्य कृत्य आज भी साहित्य द्वारा हमारे जीवन को प्रेरित करते हैं। डड्वाल्मीकि, व्यास जैसे महाकवि भारतीय साहित्य की गौरव गरिमा है, जिन्हें युगों बाद आज भी नवाजा जाता है। जिनका लिखा साहित्य आज भारतीयों के हृदय सिंहासन पर विराजमान है। साहित्य में जो शक्ति विद्यमान होती है वो तोफ तलवार में नहीं होती। भारतीय साहित्य सुखान्तवादी है। भारतीय साहित्य के नाटक भी अत्यंत सुखांत रहें हैं। इसलिए भारतीय साहित्य एक आदर्शवादी और आशावादी दृष्टिकोण रखता है।^(२०)

१.६.१ : आज का अनुभव ही है साहित्य

साहित्य और समाज का अभिन्न सम्बन्ध होने के कारण किसी भी साहित्यकार का साहित्य उसके समाज तथा जीवन के अनुभवों का प्रतिबिम्ब होता है साहित्य और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। उनकी पूर्णता एक-दूसरे को लेकर साथ चलने में है कहीं साहित्य समाज का

दर्पण है कहीं चित्र, तो कहीं निर्देशक साहित्यकार अपनी कलम चलाने से पहले उस समाज का प्राणी होता है, समकालीन स्थितियों का अवलोकन और मूल्यांकन करता है फिर अपने विवेक और संवेदनाओं के साथ समाज सापेक्ष रचना है। संसार में साधना-रत होकर अपने तन-मन के प्रत्येक कण को आहूत करके लेखन की सोंधी गंध महकाने वाले लेखक यो तो अनेक हुए हैं। पर समाज के प्रत्येक पक्ष का सूक्ष्म-निरीक्षण करने वाला, अपने स्वाभिमान की उन्नत चट्टानों पर अडिग रहकर समाज का मसीहा कहलाने वाले ओर समाज के लिये खून-पसीने से तिल-तिल, कण-कण अभिरचित करनेवाले 'महान लेखक' कई शताब्दियों से धरा की माग ओर घुटन के बाद ही पैदा हुआ करते हैं। इसीलिये कवि 'इकबाल' ने ठीक ही कहा।

“हजारो साल नरगिस अपने बेनूरी पे रोती है तब कही जाकर के होता है, चमन मे दीदावर पैदा”^(२१)

ऐसे ही महान लेखकों में कबीर, तुलसी, प्रेमचंद थे। जिन्होंने अपने साहित्य द्वारा तत्कालीन समाज में फैली दुरीतियों व धार्मिक आडम्बरो का विरोध करके सामाजिक चेतना को अपने साहित्य द्वारा प्रस्तुत किया। इन सभी का उद्देश्य समाज को सही रास्ता दिखाना था। कबीर तो मूलतः समाज सुधारक ही माने गए। तत्कालीन समाज में बाह्य आडम्बर, झूठ-दिखावा, जादु-टोना आदि कुरीतियाँ व्याप्त थी। इसीलिये कबीर ने मानव-जीवन को सचेत करते हुए कहा-

“मानव- जन्म दुर्लभ है, होए न बारम्बार

तरुवर जियो पता झरे, बहुर न लागे डार”

उन्होंने तत्कालीन समाज में मूर्ति-पूजा, रोजा-नमाज आदि का खंडन भी किया-

“पत्थर पूजे हरी मिले, तो मैं पुजू पहार

ताते यह चक्की भली, पीस खाए संसार”

कबीर सदा मानवता के प्रति सजग एवं सजेत रहे-

“सुखिया सब संसार है, खाए ओर सोवे

दुखिया दास कबीर है, जागे ओर रोवे”^(२२)

कबीर की तरह “तुलसीदास भी समाज के लोकनायक कहलाये। वे समाज में सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की स्थापना करना कहते थे। इसीलिये उन्होंने “लोक-मंगल” की भावना को प्रश्रय दिया। उनका उद्देश्य आदर्श समाज व राज्य की स्थापना करना था। जगजीवन के इस अमर कलाकार की इसी साधना को देखकर “तरुण कवि वीरेंदर मिश्र” मुक्त कंठ से पुकार उठे-

“गीत तुलसीने लिखे। तो आरती सब की उतारी

राम का तो नाम है, गाथा-कहानी है हमारी”^(२३)

कबीर तथा तुलसी की तरह प्रेमचंद को भी मानवतावाद का पुजारी कहा गया। उन्होंने अपने साहित्य में उपेक्षित, दलित, दीन-हीन मानवता का वर्णन किया उनके साहित्य में तो उनके पुरे युग की धड्कन सुनी जा सकती है। प्रेमचंदजी का मानना था “साहित्य की सृष्टि मानव समुदाय को आगे बढ़ाने, उठाने के वास्ते ही होती है। हमें तो सुन्दर को चित्रित करके मानव हृदय को उपर उठाना है, नहीं तो साहित्य की महत्ता और आवश्यकता क्या रह जाएगी”^(२४) “अपने ऐसे विचारों से ही वह मानवता के हस्ताक्षर बन गए। एक साहित्यकार भी मानव-जीवन के गुणों व अवगुणों दोनों का अवलोकन करके मानवता का पाठ पढ़ाता है। चूंकि साहित्य वही है जो उच्च वर्ग तक सीमित न रहकर आम आदमी की मनः स्थिति को भी समाज के समक्ष प्रस्तुत करे।

आज साहित्य का अर्थ समाज और व्यक्ति से संबंधित कहानी, नाटक, उपन्यास, कविता, आलोचना, निबंध, यात्रा-वर्णन, जीवन-चरित्र आदि सभी दुध माना जा सकता है। इन सभी साहित्यिक विद्याओं का उद्देश्य है व्यक्ति और समाज में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, तथा धार्मिक दृष्टियों से घटने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन एवं संरक्षण करना है। अतः प्रत्येक साहित्यकार को चाहिए कि व्यक्ति या रचनाकार को समाज से जो अनुभव प्राप्त हों, उन्हें ही वह अपने साहित्य में प्रस्तुत करके मानवता का उपकार करे। क्योंकि साहित्य समाज के ही अनुभवों का सार है, यदि और सुन्दर भाषा में कहे तो साहित्य समाज के पंकिल सरोवर में उगने वाला कमल है। साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य समाज से भिन्न नहीं है, वह

तो समाज रूपी वृक्ष पर उगने वाला फल है। समाज तथा मनुष्य एक दुसरे के पूरक हैं और साहित्य समाज तथा मनुष्य का प्रतिबिम्ब इन तीनों का ही घनछि सम्बन्ध है और एक-दूसरे के साथ ही इनका अस्तित्व विकासशील अवस्था को प्राप्त करता है। इसीलिये मेरा मानना है कि प्रत्येक साहित्यकार को अपनी कलम के प्रति ईमानदार होकर अपने साहित्य के महान लेखकों की परम्परा को आगे बढ़ाना चाहिए। तभी हमारा साहित्य व समाज उन्नत होगा।

जानकार लोग बताते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्य रूपी इस दर्पण में समाज अपनी तस्वीर देखता होगा। तस्वीर में खुद को देखकर तकलीफ होती होगी इसीलिए साहित्य को समाज ने देखना ही बंद कर दिया। साहित्यकार कहते रह गए कि; “हम दर्पण लाये हैं, देखलो” लेकिन समाज कहाँ सुनने वाला? उसे मालूम था कि दिनों-दिन उसका चेहरा खतम होता जा रहा है। ऐसे में देखना उचित नहीं रहेगा। ऊर जाने का चांस रहता था।”^(२५)

उन दिनों के दर्पण भी ऐसे थे कि झूठ बोलना जानते नहीं थे। समाज को भी मालूम था कि ये विकट ईमानदार दर्पण हैं, झूठ नहीं बोलते। असली शीशे के बने थे। पीछे में सोलिड सिल्वर कोटिंग। ऐसे में इसे देखेंगे तो तकलीफ नामक बुखार के शिकार हो जायेंगे। साहित्यकार भी ढिंढोरा पीटते रहते थे। बताना नहीं भूलते कि वे खुद ईमानदार हैं। समाज को लगता था कि ईमानदार साहित्यकार ईमानदार दर्पण लेकर आया होगा। इसी दर्पण को घूस देकर हम इससे झूठ नहीं बुलवा सकते। अब ऐसे में ये दर्पण तो हमें सुंदर दिखाने से रहा। हटाओ, क्या मिलेगा देखने से? कौन अपना खतम होता चेहरा देखना चाहेगा? दर्पण की बिक्री बंद। साहित्य का साढ़े बारह बज गया।

बजेगा क्यों नहीं? नदी दे द्वीप बनाने में रात-दिन एक करेंगे तो साढ़े बारह बजना तय।

वैसे साहित्य समाज का दर्पण है, ये बात पहले के जानकार बताते थे। बाद के जानकारों ने बताया कि अब भारत आगे निकल चुका है। अब सिनेमा समाज का दर्पण है। अब इतिहास गवाह है कि हर थ्योरी की काट भी पेश की जाती है। काट पेश न की जाए तो इतिहास का निर्माण नहीं हो सकता। इसी बात को ध्यान में रखकर बड़े ज्ञानियों और जानकारों ने बताया कि

सिनेमा समाज का नहीं बल्कि समाज सिनेमा का दर्पण होता है। विकट कन्फ्यूजन जानकारों का काम ही है कन्फ्यूजन बनाए रखना।

बाद में सिनेमा के गानों को समाज का दर्पण बनाने की कवायत शुरू हुई। मनोरंजन का साधन? आकाशवाणी बिनाका गीतमाला। रात का खाना खाओ और रेडियो लेकर तकिया के पास रख लो। मनोरंजन होता रहेगा।

१.७ : समाज का स्वरूप

साहित्य को जनता की चित्रवृत्ति का संचित प्रतिबिंब माने या समाज का दर्पण दोनों ही स्थितियों में साहित्य समाज का आइना होता ही है। इस परिपेक्ष्य में देखें तो अस्सी के बाद का समय भारतीय साहित्य में सामाजिक – राजनैतिक दृष्टि से काफी उथल-पुथल का समय रहा है। तत्कालीन समस्याओं और घटनाओं-परिघटनाओं ने हिंदी कथा साहित्य को सबसे ज्यादा प्रभावित किया।

“साहित्य समाज की एक ऐसी संपत्ति है, जिसमें गहन अनुभव और परम श्रेष्ठ प्रतिभा शक्ति छिपी हुई होती है।”^(२६) यही कारण है कि प्रत्येक समाज अपने साहित्य की रक्षा में सदैव रत रहता है। साहित्य की परंपरा को अपने गौरव की वस्तु मानता है और गौरवपूर्ण साहित्य की कामना प्रत्येक समाज तथा युग करता है। साहित्य समाज का एक ऐसा दर्पण है, जिस पर तत्कालीन परिस्थितियों के अनेक चित्र प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। सामाजिक आदर्श एवं भावनाओं के परिवर्तन के साथ ही साथ साहित्य का रूप भी समय-समय पर बदलता रहता है। इसी कारण ही साहित्य समाज की सुन्दर तथा कुरूप दोनों ही वृत्तियों के स्पष्टीकरण का रूप है। साहित्य किसी व्यक्ति विशेष या केवल रचयिता का नहीं होता, अपितु वह तो पूरे समाज एवं युग की अमृतवाणी है तभी उसमें समाज में घटनेवाली सभी घटनाओं का यथार्थ चित्रण मिलता है। साहित्य में किसी न किसी रूप में जीवन-सत्य की ही अभिव्यक्ति होती है। यदि हम विश्व साहित्य का अध्ययन करें, तो हमे विदेश की सामाजिक स्थिति का यथार्थ पता चलता है, वैसे ही वैदिक साहित्य का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि उस युग में बहु देवोपासना और

प्रकृति पूजा प्रचलित थी। साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी है। अतः उस पर पडनेवाला प्रभाव केवल उस तक सीमित न रहते हुए साहित्य का रूप धारण करके वह जन साधारण की संपत्ति बन जाता है। यही कारण है कि समाज में घटनेवाली घटनाओं का निरूपण ही साहित्यकार अपने साहित्य में करता है। अर्थात् जो समाज में है, वही हमें साहित्य में देखने को मिलता है। इसीलिए निःसंदेह कह सकते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण है।

१.७.१ : साहित्य समाज के हित का प्रतीक है

साहित्य में अद्भूत शक्ति होती है। इसी कारण ही साहित्य के अंतर्गत समाज का हित एवं कल्याण हुआ होता है। दुनिया की सबसे शक्तिशाली चीज साहित्य है, क्योंकि विश्व के तमाम देशों में जो क्रांतियाँ और सुधार हुए हैं, उनका प्रेरक रहा है साहित्य। समाज में स्वतंत्रता, समानता, आत्मनिर्णय जैसी विचारधाराएँ सत्साहित्य ने ही दी हैं। अतः साहित्य समाज का संचालक माना जाता है। साहित्यकार केवल सृष्टा ही नहीं, दृष्टा भी है। इसीलिए ही बुद्धिजीवी साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से समाज की दिशा निर्देश कर पाता है। साहित्य पतन से उत्थान की ओर ले जाने का एक महान साधन है। फलतः साहित्य से आदर्शों की रक्षा होती है और उन्हीं आदर्शों के बल पर हमारा समाज जीवित रहता है। साहित्य में लोकहित एवं कल्याण की भावना को सर्वश्रेष्ठ माना गया है और इसीकारण ही साहित्य में सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की प्रतिष्ठा को प्राधान्य दिया गया है, ताकि उसके माध्यम से समाज, जाति तथा राष्ट्र का हित हो। साहित्य मानव को मानव के निकट लाकर उसके सामाजिक सम्बन्ध को अधिक दृढ बनाता है और फलतः साहित्य के द्वारा मानव के गुण, विचार उसकी अनुभूतियाँ आदि एक व्यक्ति तक सीमित न रहते हुए पूरे समाज की संपदा बन जाते हैं। आगे चलकर यही संपदा समाज में हित व कल्याण की स्थापना करती है। अर्थात् साहित्य में जो सत्य अंकित होता है, वह सत्य हमारी अपनी अनुभूति एवं भावनाओं का सत्य है। जिसके द्वारा पूरा मानव समाज आपस में बड़े ही गाढपूर्ण रूप से एकरूप एवं परस्पर जुड़ा हुआ रहता है। यही कारण है कि साहित्य समाज के हित का प्रतीक कहलाता है।

१.७.२ : साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध

साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब माना गया है और समाज तथा साहित्य का यह सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। इस दृष्टि से जब हम हिन्दी साहित्य पर विचार करते हैं, तो यह ज्ञात होता है कि जब जिस युग में जैसी परिस्थितियाँ रही हैं, वैसा ही साहित्य लिखा गया है। अर्थात् युग परिवर्तन के साथ साहित्य युग में भी परिवर्तन देखा जा सकता है। जैसे हम देखते हैं कि वीरगाथाकाल के समाज में वीरता का विशेष महत्त्व था। सभ्यता, संस्कृति और मानवीय मूल्यों की अपेक्षा शारीरिक शक्ति पर विशेष भार दिया जाता था। एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करके किस प्रकार उसकी संपत्ति को हडप लेता था और किस तरह युद्ध किये जाते थे, इन सबका वर्तन वीरगाथाकाल के साहित्य में मिलता है। 'पृथ्वीराज रासे', 'खुमानरासो', 'बीसलदेवरासा' जैसी रचनाये इसी बात की प्रमाण हैं। ऐसे ही भक्तिकाल के साहित्य पर दृष्टि डाले तो पता चलता है कि पूरे भारतवर्ष में भक्ति की पावन गंगा प्रवाहित होने लगी थी। चारों तरफ संत महात्माओं ने मानवता का संदेश देना शुरू किया। जहाँ नैतिक पतन हो चुका था धार्मिक विमुखता आ गयी थी, वहाँ पर संत महात्माओं ने अथाक प्रयत्नों से सामाजिक मूल्यों और आदर्शों की स्थापना करने का प्रयत्न किया समाज में फैले हुए जाँति-पाति और ऊँच-नीच के भेदभाव मिटते हुए दिखाई देते हैं। कबीर, तुलसी आदि भक्त कवियों ने अपने साहित्य द्वारा पूरे समाज को बदलकर रख दिया। उस प्रकार उनके साहित्य में उनका युग बोलता हुआ दिखाई देता है। ऐसे ही रीतिकाल तक आते आते भक्ति की चेतना मृतपाय होने लगी और पुनः समाज का नैतिक पतन प्रारंभ हो गया। मूल्य धीरे-धीरे विघटित होने लगे और राधा-कृष्ण जो देव और देवी के रूप में पूज्य थे, वे सामान्य नायक-नायिका बन गये। रीतिकाल की कविता मुगल दरबारों की चार दीवारी में बंद हो गयी। साहित्य जो कल्याण की चेतना से अनुप्राणित था, वह विलासितक की भूमि पर प्रस्थापित होकर मात्र यशोगान बनकर रह गया। रीतिकाल का साहित्य केवल श्रृंगारी साहित्य बनकर रह गया।

आगे चलकर आधुनिक युग तक आते-आते पुनः सामाजिक चेतना में परिवर्तन आ गया। लोग अंग्रेजों की दासता से मुक्त होना चाहते हैं और चारों तरफ राष्ट्र भक्ति की भावना दृष्टिगोचर होती है। प्रेमचन्दजी जैसे साहित्यकार ने साहित्य को कल्पना से उठाकर यथार्थ की भूमिका पर लाने का प्रयत्न किया। गुप्तजी जैसे विद्वानों के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना मुखरित होती हुई दृष्टिगत होती है। इस तरह पूरे युग का सामाजिक चित्रण उसके साहित्य में झलकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि बदलते हुए युग के साथ साहित्य बदल जाता है। जिस युग में समाज की जैसी मनोवृत्ति होगी, मूल्य और आदर्श होंगे, रीति-रिवाज तथा रहनसहन होगा, वैसा ही साहित्य लिखा जायेगा। इस दृष्टि से साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध है।

१.७.३ : साहित्य का समाज पर सर्वोपरि प्रभाव

प्राचीनकाल से साहित्य समाज के विभिन्न रूपों का चित्रण करके उस पर अपना सर्वोपरि प्रभाव सिद्ध करता है। एक तरफ साहित्य के माध्यम से समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत होता है, तो दूसरी ओर वही साहित्य मानव-समाज की प्रगति एवं विकास का मार्ग भी निर्देशित करता है। “आदि कवि वाल्मीकिने अपने महाकाव्य ‘रामायण’ में एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था को चित्रित किया है। अपने दृष्टिकोण के अनुसार समाज के विभिन्न पहलुओं की विवेचना करते हुए वाल्मीकि ने यह सिद्ध किया है कि मानव समाज किस प्रकार आदर्श रूप में परिणत हो सकता है।”^(२७) पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है। हमारे समाज पर आज भी ‘रामायण’ आदि ग्रंथों का प्रभाव देखा जा सकता है। तुलसीदास भी अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर राम परिवार और राम-राज्य को हिन्दू समाज के सम्मुख आदर्श स्वरूप उपस्थित करते हैं। कवि वास्तव में समाज की व्यवस्था, वातावरण, धर्म-धर्म, रीति-नीति तथा सामाजिक शिष्टाचार या लोक व्यवहार से ही अपने काव्य के उपकरण चुनता है और उसका प्रतिपादन अपने आदर्शों के अनुरूप ही करता है। सामाजिक आदर्शवाद की भावना से प्रेरित होकर ही प्रेमचन्दने अपने उपन्यासों में आदर्शवाद को अपनाया। छायावादी कवियों की पलायनवादी प्रवृत्ति भी सामाजिक विषमताओं का फल है। प्रगति युग के कवियों ने स्वराज्य के

गीत गाना छोड़कर आर्थिक तथा सामाजिक शोषण के शिकार— किशान, मजदूर तथा दलित वर्ग को ही अपने काव्य का विषय बनाया। ये सब बातें समाज पर साहित्य का प्रभाव हैं सिद्ध करती हैं। विश्व में सामाजिक संस्कृति का निर्माण साहित्य से होता है। फलतः हम देखते हैं कि फ्रेंच लेखक रूसो के विचारों ने फ्रांस की राजनीतिक क्रांति का स्वरूप निर्धारित किया, तो दूसरी तरफ जोन लोक तथा मार्क्स के साहित्य ने अमरीकन एवं रूसी राज्य क्रांतियों को प्रभावित किया। इतना ही नहीं स्वयं हमारे देश के 'रामायण' और 'महाभारत' ने हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन की गतिविधि को निर्धारित किया है। तुलसी, कबीर, सूर और नानक ने हमारे मध्यकालीन भारतीय समाज की रूपरेखा और संस्कृति का निर्माण किया। इस पर साहित्य हमारी भावनाओं एवं विचारों का परिकार करके उन्हें उदात्त बनाकर हमारे अंदर कल्याण की भावना भर देता है। इसीसे यह बात सिद्ध होती है कि साहित्य का समाज पर सर्वोपरी प्रभाव रहता है।

१.७.४ : साहित्य समाज का नियामक और उन्नायक

साहित्य समाज के लिए जितना गहरा व्यापक तथा दूरगामी प्रभावक सिद्ध होता है, उतना ही वह समाज के लिए श्रेष्ठ नियामक व उन्नायक सिद्ध होता है। यही कारण है कि साहित्य को समाज का सच्चा प्रतिनिधि माना जाता है, क्योंकि एक साहित्य ही ऐसा माध्यम है, जो समाज की भावनाओं एवं विचारों को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है। तभी तो वीरगाथाकाल की वीरता एवं भक्तिकाल की भक्ति-भावमयी चेतना तत्कालीन साहित्य में झलकती है, तो दूसरी तरफ रीतिकाल की विलासिता एवं आधुनिककाल की राष्ट्रीय जागृति की चेतना उस युग में साहित्य में मुखरित होती हुई दृष्टिगत होती है, जो उस समाज की सामाजिक संस्कृति का निर्माण करती है। एक साहित्य ही ऐसा साधन है, जो समाज में फैली हुई गलत, भ्रान्तिपूर्ण, अन्याय और अत्याचार का समर्थन करनेवाली मान्यताओं एवं रूढ़ियों को यथार्थ रूप में पर्दाफाश करते हुए उसका विरोध करता है। हम देखते हैं कि प्राचीनकाल में वाल्मीकि, कबीर, तुलसी आदि में समाज सुधार की भावना दृष्टिगत होती है, तो आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, गुप्तजी, प्रेमचंदजी आदि ने समाज का मार्गदर्शन किया है।^(२८) ऐसे ही प्रसादजी, वृंदावनलाल वर्मा, डॉ.

रामकुमार वर्मा इत्यादि ने ऐतिहासिक साहित्य की रचना करके भारतीय इतिहास एवं भव्य संस्कृति का गौरवपूर्ण निरूपण अपने साहित्य के द्वारा किया है। आधुनिक गद्य साहित्य ने समकालीन भारत का यथार्थ चित्र अंकित करते हुए विदेशी गुलामी, अन्याय तथा शोषण के विरुद्ध जनजागृति उत्पन्न की। यही कारण है कि हमें आज भी वाल्मीकि, कबीर, सूर, तुलसी आदि महाकवियों पर गर्व है, क्योंकि उनका पूरा साहित्य समाज को एक संस्कृति एवं एकसूत्रता के बंधन में बांध देता है। इनका साहित्य पूरे मानव-समाज के विचार तथा भाव को आकर्षित एवं आलोकित करता है। और मानव-समाज को श्रेष्ठ तथा उच्चादर्श पर बिराजित करता है। इनका साहित्य आज भी अमर-साहित्य कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य केवल समाज का दर्पण या मार्गदर्शक ही नहीं है, अपितु साहित्य तो समाज का निर्माण भी करता है और उस समाज को आदर्श समाज बनाकर उसका विकास भी करता है।

निष्कर्षतः प्रत्येक युग के समाज के अपने विधि-निषेध होते हैं, अपनी संस्कृति तथा मर्यादा होती है, जो मानव-अनुभूति के द्वारा साहित्य का रूप लेती है। अर्थात् साहित्य जहाँ समाज से प्रभावित होता है, वही समाज को पाता है। इसलिए ही साहित्य की परिभाषा देते हुए विद्वान कहते हैं - "जीवन का उपनाम साहित्य है।"^(२९)

१.७.५ : साहित्य और भारतीय समाज

भारतीय समाज में साहित्य का विशेष महत्व है। सर्वविदित है कि भारतीय समाज में जन्म के समय से ही नवजात का स्वागत शौर्यगीत गाकर किया जाता है। यह कार्यक्रम निरन्तर छः दिन तक चलता है। जब बच्चा तनिक समझने-बुझने की स्थिति में आता है, तब माँ, दादीमाँ, नानीमाँ द्वारा लोरीगीत गाकर बच्चाहंसाया, दूध-पिलाया, खिलाया, सुलाया और जगाया तक जाता है। इन लोरियों का ऐसा प्रभाव बच्चे पर पड़ता है कि रोता हुआ बच्चा चुप हो जाता है, हंसने लगता है, खेलने लगता है। यही से शुरू हो जाती है भारतीय समाज की साहित्यिक पाठशाला। इसी लोरीगीत के प्रारम्भिक साहित्यिक ज्ञान से वह अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ने लगता है, जो आजीवन भी चलता रहता है। इसी ज्ञान के साथ एक दिन वही नवजात से बड़ा, साधारण से

विशिष्ट से महान तक बन जाता है। भारतीय समाज में साहित्य का दर्शन जन्म से लेकर हम खुशी के मौके-तीज त्योहारों ही नहीं मृत्यु तक के दुःखद गीतों में हो जाता है। भारतीय समाज को साहित्यिक ज्ञान से अनेक लाभ हुए हैं। साहित्य भारतीय सामाजिक जीवन को संस्कारित करता आ रहा है। साहित्यिक ज्ञान पुस्तकें पढ़ने कहने सुनने से तो प्राप्त होता है परन्तु इनसे अधिक लाभ अनुभव से प्राप्त होता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है, अर्थात् साहित्य और मानव जीवन खासकर भारतीय परिवेश में साहित्य और जीवन का गहरा सम्बन्ध है। साहित्य का आधार जीवन है। साहित्यकार समाज अथवा युग की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि सच्चे साहित्यकार की दृष्टि में साहित्य ही अपने समाज का स्वर और संगीत होता है। देश की आजादी की लड़ाई के दौरान भारतीय समाज और साहित्य का साक्षात्कार दुनिया को हो चुका है। अंग्रेजों को देश छोड़कर भागना पड़ा, इसमें भारतीय समाज और साहित्य की बहुत बड़ी भूमिका रही। साहित्य परिवर्तन के आहवाहन के साथ मानवजाति को जोड़ता है। इसीलिये भारतीय समाज में साहित्य, समाज का प्रतिबिम्ब माना जाता है। साहित्य अतीत का दर्पण और भावी जीवन का निर्देशक भी है। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता, ऐसा साहित्य जीवन के शाश्वत मूल्यों को प्रतिष्ठित करता है। वाल्मीकि, कालीदास, रविदास, सूरदास, तुलसीदास एवं आधुनिक युग के कलमकारों की कृतियाँ आज के सूचनाक्रान्ति एवं व्यवसायीकरण के दौर में भी आधुनिक समाज का दिशा निर्देशन करने में सक्षम हैं।

साहित्य के उद्देश्यों को लेकर प्राचीनकाल से भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्री चर्चा करते रहे हैं। आज भी यह चर्चा अनवरत् जारी है, साहित्य का सामाजिक सरोकार भी होना चाहिये जो सामाजिक परिवर्तन का शंखनाद करें, सामाजिक बुराईयों के तिरस्कार-बहिष्कार का ऐलान करें, मानव से मानव को जोड़ने की बात करें और हाशिये के आदमी का पक्षधर भी हो। यह चिन्ता और चर्चा भारतीय समाज में आधुनिक साहित्य की उपज कहा जा सकता है जो भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों के उन्मूलन की दृष्टि से जरूरी भी है। भारतीय समाज में यह

मान्यता है कि किये का फल इस जन्म में नहीं तो अलग जन्म में मिलता है। इस विश्वास का प्रभाव भारतीय समाज और साहित्य पर पडा है।

प्राचीन भारत में बौद्ध और जैन धर्म का जन्म स्थापित और स्वीकृत परम्पराओं और मान्यताओं के विरोध में हुआ है। अपनी अभिव्यक्ति के लिये संस्कृत को छोडकर प्राकृत भाषाओं को अपनाने की प्रवृत्ति भारतीय समाज में मिलती है, जिसे सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से भी देखा जा सकता है। इस विद्रोह को सामाजिक आन्दोलन का नाम दिया जा सकता है। इसके पूर्व सिद्धिनाथ साहित्य में भी इस आन्दोल का नाम दिया जा सकता है। इसके पूर्व सिद्धिनाथ साहित्य में भी इस आन्दोलन को मुखरित किया गया था। सिद्धों ने प्रचलित धार्मिक रूढियों, अंधविश्वासों और सामाजिक असमानता पर अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। भारतीय समाज में सबसे निम्न स्तर पर जीने वाली जातियों जिनका आदमी होने तक का सुख छिन लिया गया था के लिये भक्ति के साथ जीवन के अन्य क्षेत्रों में सम्मान और समानता की मांग करना सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से अत्याधिक प्रगतिशील और अग्रगामी शंखनाद था जिसे साहित्य ने ही स्वर प्रदान किया था। वर्तमान में सर्वधर्मी जातीय समानता अथवा बहुधर्मी सद्भावना आयेगी अथवा नहीं यह तो कयास का विाय हो सकता है परन्तु दावे के साथ कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में आ रहे परिवर्तन के कारणों को साहित्य ही मुखरित कर रहा है। दिशा दे रहा है, परिवर्तन के स्वर दूर-दूर तक पहुंचा रहा है। आने वाली पीढियों को संस्कारित करने के प्रयास और स्वर की जीवंतता बनाये रखने में भी अहम् भूमिका निभा रहा है। भारतीय समाज में मूल्य संस्कार के रूप में व्याप्त है। व्यक्ति की वर्तमान स्थिति की व्याख्या उसके पूर्व जन्म के कर्मों का हवाला देकर की जाती है। ऐसी व्याख्या स्वार्थी सामाजिक शक्तियों का वर्चस्व कहा जा सकता है, जो जातीय असमानता को बढावा है, यदि व्यक्ति इन विचारों पर विश्वास और आस्था रखता है तो यकीनन ऐसी आस्था से दूसरों के कटों के प्रति उदासीनता का वातावरण निर्मित होता है जिसकी इजाजत न तो सभ्य समाज देगा और नहीं सद्साहित्य क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है और साहित्यकार समय का पुत्र।

भारतीय समाज और साहित्य को लोक गीतों ने भी संवृद्ध किया है। इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। लोकशब्द का अनुवाद अंग्रेजी के लोक रूप में हुआ है। ऋग्वेद के अनुसार लोक शब्द विराट समाज की ओर संकेत है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों या गांवों में फैली हुई समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत जीवन के अभ्यस्त होते हैं। परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासितक और सुकुमारता को जीवति रखने के लिये जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं। देश में कई राजनैतिक परिवर्तन हुए हैं पर लोकगीतों में बदलाव नहीं हुआ परन्तु राजनैतिक परिवर्तनों का मानवजीवन पर असर दिखाई देने लगता है। लोकगीतों की तटस्थता बनी रहती है। मनुष्य शिक्षित होकर अनेक रूप बदल लेता है परन्तु लोक संस्कृति की गति में विशेष परिवर्तन नहीं आता। इन इन लोक गीतों का कथ्य खाना-पीना, रहन-सहन, रीति-रिवाज, परम्परा, रूढ़ियाँ सामाजिक-पारिवारिक सम्बन्ध, नाते-रिश्ते मान-मनुहार, नोंक-झोंक आदि होता है। सच तो ये है कि लोकगीत भारतीय संस्कृति की पहरेदार हैं, भारतीय समाज और साहित्य को सम्पन्न एवं रुचिकर बनाती हैं। लोकगीत जन-मन का गीत है जो पीढ़ी दर पीढ़ी विरासत में मिलता रहता है जिससे भारतीय समाज और साहित्य अधिक संवृद्ध हुआ है।

साहित्य, भारतीय समाज में मनुष्यता को पोषित करने की दृष्टि से देखा जाता है, रचा जाता है क्योंकि साहित्य का उद्देश्य, दुर्गति, हिनता, उपेक्षा से उबरते हुए मानवीय एकता समता, स्तुतिभावना और विश्वबन्धुत्व को बढ़ावा भी देना होता है। साहित्य के इसी उद्देश्य ने भारतीय समाज में व्याप्त संकीर्णताओं पर प्रहार किया है और आज का आदमी जाति-धर्म से उपर उठकर मानवीय समानता के पक्ष में खड़े होने लगे हैं। जाति-तोड़े तक की ललकार सुनायी देने लगी है। यह ललकार साहित्यिक विचार मंथन की द्योतक है। आज का साहित्यकार भी मात्र स्वप्न एवं कल्पना भी जीना नहीं चाहता वह यथार्थवादी बनकर मानवराष्ट्र के साथ विश्व को जोड़ने का इच्छुक है। वह भारतीय समाज को समानतावादी ऐनक से देखकर बुद्ध के सपनों को साकार करना चाहता है। भारतीय समाज और साहित्य सृजन बड़ी बात नहीं है, समाज को सचेत करना

भी दायित्व हैं जो साहित्य और भारतीय समाज के लिये परमावश्यक है। भारतीय समाज और साहित्य को लेकर देश के जनसमुदाय के अध्ययन का प्रयत्न किया गया है और हो भी रहे हैं परन्तु खेद के साथ कहा जा सकता है कि यह वोट नीति अथवा अच्छा मतदाता बनाने के उद्देश्य से हुए हैं अथवा हो रहे हैं परन्तु भारतीय समाज और साहित्यिक उत्थान की दृष्टि से अध्ययन होना अभी बाकी है। हमारा देश आज के इस विज्ञान के युग में जातिभेद की समस्या से धिरा पडा है, भारतीय समाज में ७५ प्रतिशत से अधिक मनुष्य जातिवाद-भेदभाव के शिकार है, जिसके कारण उनके मन में कुण्ठा घर कर गयी है। जब तक यह कुण्ठा खत्म नहीं हो जाती तब तक देश की आत्मा सुखी नहीं हो सकती। इस काम को भारतीय समाज करने का संकल्प ले ले तो साहित्य में इतनी शक्ति है कि वह हर समस्या का समाधान कर सकता है परन्तु भारतीय समाज को ईमानदारी बरतना होगा, सामाजिक, राष्ट्रीय एकता एवं स्वधर्म समानता के साथ बहुधर्म सद्भावना को भी विकसित करना होगा। राष्ट्र की अमन, शान्ति एवं एकता के लिये राष्ट्र-धर्म तक को विकसित करना होगा, वर्तमान में यह भारतीय समाज और साहित्य के लिये जरूरी भी हो गया है। यकीन के साथ यह कहा जा सकता है कि साहित्य की विषय वस्तु समाज है, जैसा समाज और उसका वातावरण होगा वैसा प्रभाव साहित्य पर भी पड़ेगा। साहित्यकार भी उसी समाज में रहते हुए समाज के सुख-दुःख रीतिरिवाजों पर अथवा आपबीती अनुभवों से उपजे विचार और कल्पनाशीलता को यथार्थ की तुला पर रखते हुए कलमबद्ध कर समाज के भले के लिये दर्पण दिखाने का काम करता है। सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्यकार को प्रभावित करती हैं यह प्रभाव प्रेमचन्द के कफन के घीसू और माधो के माध्यम से दिखाने का भरपूर प्रयास किया है। घीसू और माधो अनपढ थे परन्तु परलोक की मान्यता के सम्बन्ध में दोनों का दृष्टिकोण कितना समान है, घीसू कहता है कफन लगाने से क्या मिलता है, आखिर जल ही है? कुछ बहू के साथ न जाएगा। माधो कहता है दुनियाका का दस्तूर है नहीं तो लोग बामनों को हजारों रुपैया क्यों देते। कौन देखता है परलोक में मिलता है या नहीं। प्रेमचन्द ने कफन के इन पात्रों के माध्यम से भारतीय समाज को कितना बडा संदेश दिया है। यह संदेश भारतीय समाज में सामाजिक-

समानता मानवीय एकता के बढावे के साथ अंधभक्ति एवं रूढिवादी कमरकाण्डों से बने-बचाने की सोच पैदा किया है।

साहित्य का समाज पर क्रान्तिकारी प्रभाव पडता है। साहित्यकार समाज का प्रतिनिधित्व करता है और समाज को विचार प्रदान करता है। समाज जब किसी बुराई की चपेट में आता है, तो साहित्यकार दूर करने का अथाक प्रयास करता है। साहित्यकारों ने सदा ही समाज को राह दिखाने का काम किया है। साहित्य और समाज दोनों अलग-अलग मुद्दे होकर भी एक है। साहित्य समाज का सेवक है, दोनों का उत्थान-पतन भी होता है। समाज का पक्ष कमजोर होता है तो साहित्य में दिखने लगता है यदि साहित्य का पक्ष कमजोर होता है तो वह समाज में दिखने लगता है। वर्तमान में युवा पीढी एवं समाज का साहित्य से दूरी का प्रभाव स्पष्ट नजर आने लगा है, साहित्य और साहित्यकार उपेक्षा के शिकार हो रहे हैं। समाज में नैतिक पतन और दूसरी कई बुराईयां घर करने लगी है परन्तु साहित्यकार अनभिज्ञ नहीं हैं वे अपने दायित्व पर खरे उतर रहे हैं जिसका परिणाम है रोज रोज आती नई कृतियाँ और साहित्यिक सभायें गोष्ठियां। साहित्य का उद्देश्य ही समाज का हित साधते हुए और उन्नति के मार्ग पर ले जाना होता है।

भारतीय समाज और साहित्य का गहरा सम्बन्ध हैं और दोनों एक दूसरे के पूरक है। समाज शरीर है तो साहित्य आत्मा। साहित्य मानव मस्तिक से उत्पन्न होता है। साहित्य मनुष्य को मनुष्यता प्रदान करता है। मनुष्य न तो समाज से अलग हो सकता है और न साहित्य से। मनुष्य का पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा तथा जीवन निर्वहन भी समाज में ही होता है। व्यक्ति सामाजिक प्राणी बनकर अनेक अनुभव ग्रहण करता है, जब वह इन अनुभवों को शब्दों के माध्यम से व्यक्त करता है तो साहित्य का रूप बन जाता है। शब्दों की यही अभिव्यक्ति आदमी को श्रेष्ठ एवं साहित्यकार बना देती है। अन्तोगत्वा, कहा जा सकता है कि साहित्य और भारतीय समाज एक सिक्के के दो पहलू है। साहित्य के बिना राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति निर्जीव है। साहित्यकार का कर्तव्य बनता है कि वह हेसे साहित्य का सृजन करे जो राष्ट्रीय एकता, मानवीय समानता, विश्व-बन्धुत्व के सदभाव के साथ हाशिये के आदमी के जीवन को उपर उठाने में सक्षम बना रहे। यह भारतीय समाज और साहित्य का प्रतिनिधित्व करने में भी सक्षम बना रहे।

यह भारतीय जनसमुदाय और साहित्यकारों का नैतिक दायित्व भी बनता है ताकि भारतीय समाज और साहित्य जगत का मार्गदर्शन बना रहे।

१.७.६ : साहित्यकार का समाज पर प्रभाव

आज साहित्य प्रेमचंद युग के साहित्य की तरह “सादर्श” की अभिव्यक्ति नहीं करता, कारण कि “आदर्श ही बहुत समय से लापता हो गए हैं। ना “आदर्श” जीवन बचा न आदर्श समाज, न आदर्श मनुष्य और न ही आदर्श स्थिती, क्योंकि “आदर्श” कि और परिभाषा को चरितार्थ करने कि प्रक्रिया, जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ में गडबड हो गई है। चाह कर भी कवि कहानीकार, उपन्यासकार, संवेदनशील लेखक इस भुलभुलैया से जीवन का उत्तर नहीं खोज पा रहा है। ऐसे में साहित्य और साहित्यकार बहुत ईमानदारी से, संजीदगी के साथ (अपनी समझ से) इन अनुत्तरित प्रश्नों को पाठकों के सामने रख कर अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है।

तो इसका अर्थ यह लिया जाए कि साहित्य और उद्देश्य आधुनिक समाज में, समाज और व्यक्ति के संबंध और जीवन से संबंधित प्रश्न को प्रस्तुत करता है? आज से बीस-तीस वर्ष पूर्व के साहित्यकारों ने कुछ ऐसा ही सोचा और माना था पर प्रश्न को प्रस्तुत करता है? आज से बीस-तीस वर्ष पूर्व के साहित्यकारोंने कुछ ऐसा ही सोचा और माना था पर प्रश्न उठा कर छोड़ देने से भी बात कुछ बनी नहीं तब लेखक ने प्रश्न पर निजी उत्तर देते हुए अनेक अन्य उत्तरों अर्थात् चिंतन दिशाओं के द्वार भी संभावना के तौर पर पाठकों के सामने खुले छोड़ने प्रारंभ कर दिए। आज साहित्यकारों के इन्हीं निजी उत्तर देते हुए अनेक अन्य उत्तरों अर्थात् चिंतन दिशाओं के द्वार भी संभावना के तौर पर पाठकों के सामने खुले छोड़ने प्रारंभ कर दिए। आज साहित्यकारों के इन्हीं निजी उत्तरों में राजनैतिक मतों और विशेष सामाजिक संदर्भ... की छायाएँ उतरती दिखाई देती हैं, जिनकी कुछ चर्चा यहां की गई है।

१.८ : साहित्यकार द्वारा समाज दर्शन की प्रस्तुती

यही "सच" बहुत ही धारदार, विश्लेषणात्मक दृष्टि के साथ बोला है। तसलीमा नसरीन (बंगलादेश की लेखिका) के उपन्यास "लज्जा" ने, जिसे वहाँ की सरकार ने इस्लामविरोधी या शासक विरोधी बता कर जब्त कर लिया था। "लज्जा" उपन्यास में बंगलादेशी हिन्दुओं पर वहाँ के कट्टरपंथी मुसलमानों द्वारा ढाये गए अत्याचारों का तथ्यात्मक वर्णन है। यहाँ उपन्यास की विधा रिपोर्टिंग का भी काम करती है और संविधान के नियम-अधिनियम बताने वाली राजनैतिक शास्त्र की पुस्तक का काम भी करती है। "लज्जा" उपन्यास की शक्ति, उसके द्वारा कहे सत्य की मार्मिकता में है, कठोर तथ्यों को बेधडक हो प्रस्तुत करने में है। यशपाल और तसलीमा नसरीन, और उनके ही जैसे सत्य को धारदार रूप में निर्भीकता से प्रस्तुत करनेवाले साहित्यकारों ने साहित्य के उद्देश्य को एक नया ठोस आयाम दिया है, जिसके चलते यह लगने लगा है कि अपने देश और संसार में जो उथल-पुथल मची है, मनुष्यता और जीवन दोनों को ही ढाँव पर लगा कर आँतकवादी शक्तियाँ जो कुछ कर रही हैं, उसको बिना किसी चिंतन और दर्शन का मुलम्मा(कोटिंग) चढाव हुए ही प्रस्तुत करना चाहिए ताकि जो कुछ सामने और राजनेताओं के मन और दफ्तरों में चल रहा है उसे सामने लाकर, जनता को भ्रमित होने से बचाया जाए।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से विश्व में मनुष्यता के प्रति अविश्वास और जीवन की अनिश्चितता के अहसास ने अनेक नए दर्शनों और चिंतन दृष्टियों को जन्म दिया था। हिन्दी साहित्य में भी इन् चिंतन दृष्टियों को अनेक कृतियों जैसे "अंधायुग" (धर्मवीर भारती), शेखर: एक जीवनी (अज्ञेय) और जैनेन्द्र कुमार आदि अनेक साहित्यकारों की रचनाओं में देखा जा सकता है। सन् सैंतालीस के बँटवारे ने मनुष्य के भीतर की पशुता को जो नग्न रूप दिखाया, उसने साहित्य और साहित्यकारों को "आदर्शवाद" के "युटोपिया" से पुरी तरह बाहर लाकर पटक दिया। यशपाल के "झूठा-सच" उपन्यास ने साहित्य के उद्देश्य को एक नया आयाम दिया- वह था सच का बिना डरे, ज्यों का त्यों उद्घाटन करना और जीवन शक्ति, संघर्षों और पीडा के थपेडे खा कर भी बची हुई जीवनी शक्ति की स्थापना करना। सच ही तो है, जब साहित्य समाज का दर्पण माना जाता है, समाज का हित करनेवाला कहा जाता है, "तब समाज में राजनेताओं के स्वार्थ पूर्ण

निर्णयों और समाज में उन निर्णयों के प्रतिफल द्वारा उत्पन्न विषैली स्थितियों को पाठकों के सामने लाना भी साहित्यकार का ही काम है।”^(३०)

१.८.१ : समाज सुधारक साहित्यकार

सन् २००१ और अब युद्ध और आतंक की घटनाओं के बीच साहित्य और साहित्यकार को पुनः एक नयी करवट लेनी होगी, जाग कर वास्तविकता की चौंध को, आँखों पर सुरक्षा का कोई हाथ लगाए बिना ही देखना होगा। यह सच है कि मनुष्य जीवन इन घटनाओं के बाद, पहले जैसा नहीं रह गया है। हादसों की आशंकाओं से काँपते हृदयों में भविष्य की कोई तस्वीर साफ नहीं है। आम आदमी विभिन्न सरकारों द्वारा किए जाने वाले कड़े सुरक्षा प्रबन्धों से उत्पन्न झंझटों की चिड़चिड़हट और आतंकवादियों द्वारा इन सुरक्षा प्रबन्धों के बीच से, बचकर निकल आने और असुरक्षा फैलाए जाने के डर के बीच झूल रहा है। यह जीवन की त्रासदी ही तो है। प्रश्न यह है कि साहित्य जो समाज का ‘दर्पण’ और समाज को दिशा देने वाला कहा जाता है, वह इस त्रासदीपूर्ण समय में, इस त्रासदी को विश्लेषणात्मक स्तर पर प्रस्तुत करते हुए, भविष्य की दिशा कैसे बताए?

साहित्यकार यह विश्लेषण अपनी रचनाओं में तो प्रस्तुत करते ही हैं जैसे डा. अंजना संधीर की यह कविता “वर्ल्ड ट्रेड सेंटर” को याद करती है--

“सब ने मिलकर
ग्राउंड जीरो पर
लगाया है क्रिसमस ट्री

२१ हजार खिड़कियों वाले इस वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की जगह

आज लगाया ये यादों से लिपटा पेड

तुम ढह गए हो आज पर मर नहीं सकते

हमारी यादों में वैसे ही जिंदा हो तुम

ओ वर्ल्ड ट्रेड सेंटर

(वैसे ही जिन्दा हो तुम)''^(३१)

राजेन्द्र तिवारी अपने शेर में लिखते हैं--

“ये अभी बच्चे हैं अपनी काट लेंगे उँगलियाँ

इनके हाथों में खिलौने दो इन्हें खंजर न दो”^(३२)

यह दुःख और चिंता से भरा सच है। विज्ञान और तकनीक की प्रगति, चिंतन और दर्शन के गहन मंथन और संवेदनशीलता के अतल में उतरने के बाद क्या हमें अपने बर्बर आदिम रूप में फिर आना होगा? क्या धर्म और सम्प्रदाय की रूढ़ियों से जिज्ञासु की स्वतंत्र सोच फिर बाधित होगी? ऐसे में साहित्यकार और बुद्धिजीवी क्या हाथ पर हाथ धरे ऐसे ही बैठे रहेंगे? क्या उनका स्थिति दर्शन कराना और सुरक्षित विश्व की शुभकामना करने से कुछ हो पाएगा? या फिर निराशा में डूबा मन यह गुनगुनाता प्रतिक्रियावाद की ओर मुड़ जाएगा

“जूझे, लडे, थके और टूटे, अब वे जान गए होंगे।”^(३३)

उनका अमृत नहीं मिलता, चले हलाहल ढूँढें हम।।

(डॉ. गोविंद व्यास - “दो पल”)

मुझे ‘कामायनी’ का मनु और श्री जयशंकर प्रसाद की अपनी पंक्तियों ध्यान आ रही हैं जहाँ ज्ञान और दर्शन चिंतन को कर्म से जोड़ने की बात कही गई है या कहें कि उनके पृथक् रहने पर पूर्णता न पहुँच पाने का दुःख है-

“ज्ञान दूर कुछ किया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की

एक दूसरे से न मिल सके यहा विडंबना है जीवन की।”^(३४)

प्रायः कहा जाता रहा है कि कलम, तलवार से अधिक शक्तिशाली होती है। इस कलम की शक्ति को जाँचने की परीक्षा पुनः आज के साहित्यकारों के सामने आ खड़ी हुई है।

१.८.२ : समाज में नयी आशा को जन्म देता साहित्यकार

जब रूस और फ्रांस की क्रान्ति में यह कलम बड़ी भूमिका निबाह सकती है, जब भारत-चीन युद्ध में 'दीनकर' की कलम, रेडियो से गुँजती उनकी वाणी सिपाहियों के हाथ और मन में ऊर्जा भर सकती है तब आज के कठिन, दुरूह समय में भी यह कलम अपने स्वर की ऊर्जा से कुछ सकारात्मक काम कर सकती है, अभी यह मेरा विश्वास बाकी है। हाँ, यह सत्य है कि दिशाएँ आतंके के सघन अंधेरे में लुप्त हैं, हाँ यह सत्य है कि निराशा के अवसर पैर उठाना नहीं चाहते पर यह भी सत्य है कि जीवन की दैनंदिन समस्याओं से जूझता आदमी अखबारों की खबरें पढ़ कर बहस करना नहीं भूलता। "क्या होगा", "कैसे होगा" की दीवारों में, उसकी सोच सूराखें करके अवरुद्ध भविष्य को खोजने में लगी है। जब मनुष्य नहीं हारा, जब समाज बहस के गर्म माहौल में दिशाएँ खोज रहा है तो साहित्यकार कैसे हार सकता है, थक कर बैठ सकता है?

आप सोच सकते हैं कि, "मैं भी आपकी तरह आशा और निराशा के मध्य झूल रही हूँ। सच ही है, युगचेता लेखकों और रचनात्मक प्रतिभाओं की हमारे समाज और भाषा में कमी नहीं-पर स्थितियों की विभीषिका में बिना "कम्युनल" हुए या प्रतिक्रियावादी बने, अपनी अस्मिता, अपने आत्मगर्व और सकारात्मकता को "सक्रिय" ढँग से साहित्यकार कैसे स्थापित करे - यह एक बड़ा प्रश्न है।"^(३५) बिना "सक्रिय" यानि व्यापकरूप से अपने होने और अपनी सोच को जताए बिना काम नहीं चलेता। किसी एक देश के एक कान, एक प्रांत में, एक बेहद सार्थक पुस्तक प्रकाशित होकर यदि लाख, हद से हय दो-तीन लाख लोगों द्वारा पढ़ भी ली जाती है तो उससे उसके बाद क्या होगा? यानि कि बात वही है लेखक को, आज के समय में, इससे अधिक सक्रिय होने की आवश्यकता है, व्यापक स्तर पर अपने फैलाने की आवश्यकता है और इसलिए "मिडिया" एक सशक्त माध्यम बनता जा रहा है। यह हकिकत है कि साहित्य समाज का दर्पण है।

१.९ : निष्कर्ष

तो इस प्रकार इसका अर्थ यह लिया जाए कि साहित्य और उद्देश्य आधुनिक समाज में, समाज और व्यक्ति के संबंध और जीवन से संबंधित प्रश्न को प्रस्तुत करता है? आज से बीस-तीस वर्ष पूर्व के साहित्यकारों ने कुछ ऐसा ही सोचा और माना था पर प्रश्न उठा कर छोड़ देने से भी बात कुछ बनी नहीं तब लेखक ने प्रश्न पर निजी उत्तर देते हुए अनेक अन्य उत्तरों अर्थात् चिंतन दिशाओं के द्वार भी संभावना के तौर पर पाठकों के सामने खुले छोड़ने प्रारंभ कर दिए । आज साहित्यकारों के इन्हीं निजी उत्तरों में राजनैतिक मतों और विशेष सामाजिक संदर्भ की छायाएँ उतरती दिखाई देती हैं, जिनकी कुछ चर्चा यहाँ की गई है ।

संदर्भसूची

- १) हिन्दी साहित्य समीक्षा, डॉ. वखतसिंह गोहिल, सौराष्ट्र विश्व विद्यालय, राजकोट, प्र.२
- २) वही, पृ.५
- ३) वही, पृ.१०
- ४) वही, पृ.१२
- ५) वही, पृ.७
- ६) कहानी के नये प्रतिमान : नामवर सिंह, पृ.६७
- ७) वही, पृ.६९
- ८) जाम्भाणी साहित्य अकादमी, मार्च २००५, पृ.४
- ९) साहित्य कुञ्ज, शैलजा सक्सेना, २००९, पृ.१
- १०) वही, पृ.३
- ११) वही, पृ.३
- १२) वही, पृ.३
- १३) वही, पृ.५
- १४) अखिल भारतीय रैगर, ब्रजेश हंजावलिया, पृ.१
- १५) समकालीन कहानी की पहचान : डॉ. नरेन्द्र मोहन, पृ.५१
- १६) संपा. सक्सेना राजेश्वर, ठाकुर प्रताप, त्रैमासिक, जून २००१ - पृ.४२
- १७) भीष्म साहनी : व्यक्ति और रचना, पृ.८२
- १८) भारत विभाजन और हिन्दी उपन्यास - हरिवंश, पृ.७५
- १९) नई कहानी की भंगिमा : डॉ. संतोष शर्मा, पृ.७८
- २०) डॉ. वासुदेव शर्मा, साठोत्तरी हिन्दी कहानी मूल्यों की तलाश, पृ.१०३
- २१) कुमार मिश्र और ज्ञानदत्त पाण्डेय का ब्लोग, सप्टे-२००८, पृ.१०
- २२) ज्ञानकोश, १३ अक्टू-२०११, पृ.१७५
- २३) वही, पृ.१७७

- २४) रचनाकार, नन्दलाल भारती का आलेख, जनवरी २०१२, पृ.५
- २५) वही, पृ.११
- २६) वही, पृ.११
- २७) हिन्दी साहित्य समीक्षा, डॉ. वखतसिंह गोहिल, षै.विश्वर विद्यालय, राजकोट, पृ.८
- २८) हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, रामप्रसाद मिश्र,पृ.२३३
- २९) वही, पृ.२३५
- ३०) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य, डॉ. महेन्द्र भटनागर, पृ.४
- ३१) हिन्दी साहित्य – युग और प्रवृत्तियाँ – डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. ६१३
- ३२) हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, जयकिशन खण्डेलवाल, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, वर्ष १९८६, प्रथम संस्करण
- ३३) साहित्य साधना की पृष्ठभूमि : श्री बुद्धिनाथ झा कैरव
- ३४) रचनाकार नन्दलाल भारती का आलेख : साहित्य और भारतीय समाज, जनवरी २०१२, पृ.७
- ३५) वही – पृ.९